वेदान्तसार



पं० रामगोविन्द शुक्ल

श्रीसदानन्द यतिप्रणीतः

वेदान्तसारः

(दीपिकामयूखसंस्कृतहिन्दीव्याख्यायुतः)

सम्पादकः

पण्डितश्रीरामगोविन्दशुक्लः

नव्यन्याय-व्याकरण-साहित्याचार्यः

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशकः

भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बॉक्स १०८, कचौड़ीगली, वाराणसी

फरवरी १९६७

मूल्य : १.८० पैसे

मुद्रक—

शरद कुमार 'साधक'
मानव मन्दिर मुद्रणालय
नरहरपुरा, वाराणसी

अपनी बात

जब मैं दर्शनमध्यमा की परीक्षा दे रहा था तब मेरे विचार में आया कि वेदान्त सार पर कोई ऐसी टीका नहीं जैसी मुक्तावली पर मयूख टीका मेरे पूज्यपाद पितृचरण श्री सूर्यनारायण शुक्ल जी ने रची है। मुक्तावलीमयूख में पूरे विषय कोटिक्रम से नयी भाषा में लिखे गये हैं। जिस लेख पद्धतिने छात्रों तथा अध्यापकों का आकर्षण किया है। मुझे वह लेखन पद्धति बहुत रुचिकर प्रतीत हुई और मैंने वेदान्तसार पर एक संस्कृत टीका लिख डाली। यह बात है सन् १९४५ ई० की, जब मैंने साहित्य और व्याकरण में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करली थी।

मुझे यह कभी सम्भावना ही नहीं थी कि मेरी यह टीका छपेगी। किन्तु कालक्रम से मेरे कतिपय ग्रन्थ मुद्रित हुए, और छात्रोंने उन्हें रुचिके साथ अपनाया। इसलिए भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी के अध्यक्ष श्री किशोरचन्द्र जैन की प्रेरणा पर हिन्दी के साथ वह संस्कृत टीका परिमार्जित होकर मुद्रित हो रही है। इसके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

इस टीका में मेरे दो दृष्टि-कोण हैं। एक तो ग्रन्थका अभिप्राय स्पष्ट हो और दूसरा यदि कोई छात्र इसका अविकल अभ्यास कर ले वह तो परीक्षा नदी पार कर जाय। इस प्रकार यह ग्रन्थ अध्यापकों, बुद्धिमान छात्रों तथा स्वतन्त्र छात्रों का भी परम सहायक सिद्ध होगा। मैंने ग्रन्थ में प्रकरणभेद के लिए 'शीर्षक' लगा दिये हैं जिससे

प्रश्न समझने में सरलता होगी। अन्तमें कतिपय वर्षों के प्रश्नपत्र जोड़ दिये हैं वे भी ग्रन्थ की तैयारी में छात्रों के सहायक होंगे। फिर भी अन्य भाषाओं के विश्वविद्यालयों में जहाँ अंग्रेजी अथवा हिन्दी माध्यम से परीक्षायें होती हैं जैसे प्रश्न पूछे जाते हैं उनमें विषय तथा ग्रन्थके सम्बन्ध में कतिपय बात बता देना अनिवार्य समझ कर ग्रन्थ के आरम्भ में भूमिका जोड़ दी है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ को सर्वथा उपयोगी बनानेका भरसक प्रयत्न करने पर भी कहीं भाषा तथा कहीं शैला भ्रामक भी हो सकती है किन्तु इस प्रकार की त्रुटियों का मार्जन तो मैं उन सुहृद्जनों पर ही छोड़ दे रहा हूँ जो इस विषय के प्रगाढ़ पण्डित हैं तथा मुझपर असीम अपनत्व समझते हैं।

अन्त में यह ग्रन्थ पुष्प उस प्रकाश पुञ्ज को अर्पित कर रहा हूँ जो समष्टि तात्पर्य से राम है और व्यष्टि तात्पर्य से पुस्तकाकार में भासमान है।

शिवरात्रि
२०२३ वि०

—रामगोविन्द शुक्ल



भूमिका

दर्शन शास्त्र विचारों की असख्य पथगा गङ्गा है। किसी भी दर्शनका संक्षिप्त परिचय भ्रामक तथा विवाद का विषय बनता है। इसलिए हम यहाँ विशेष कुछ न लिखकर ग्रथ, ग्रन्थकार तथा प्रतिपाद्य विषयों का सक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं।

यह ग्रंथ भगवान् शङ्कराचार्य द्वारा रचित उपनिषद्भाष्यों, गीता-भाष्य तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य में प्रतिपादित वेदान्त रहस्यों के संक्षिप्त परिचय के लिए सदानन्द यति ने रचा है।

सदानन्द यति

वेदान्तसार के लेखक श्री सदानन्द यति का जन्म कब और कहां हुआ तथा उनकी कितनी कृतियाँ हैं इसका विवेचन कठिन हो रहा है। क्योंकि अब तक तीन सदानन्द वेदान्त शास्त्र में उपलब्ध हुए हैं।

१—एक तो 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' के कर्ता सदानन्द यति है। इस ग्रन्थ की एक प्रति १७६१ सवत् में लिखी हुई मिली जिनकी पुष्पिका निम्नलिखित है—इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीब्रह्मानन्दसरस्वती श्रीपादशिष्य श्रीसदानन्दकाश्मीरविरचितायामद्वैतसिद्धौ गुरुशब्दाभिधेयविचारे साख्यपातञ्जलमतनिराकरणगर्भितप्रौढमीमांसकमतखण्डनव्याजेन दुर्दुरूढवादिशिरसि चतुर्थोयं मुद्गरप्रहारः"। इससे ये कश्मीर निवासी सदानन्द यति हैं और इनका काल अठारहवीं शताब्दी के पूर्व या इसके आसपास रहा होगा।

२—प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि के कर्ता श्री सदानन्द विद्वद्वर्य के विषय में विश्वनाथ पुस्तकालय वाराणसी के ग्रन्थाध्यक्ष श्रीकृष्णपन्त जी ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण तथा तर्क पूर्ण टिप्पणी मे लिखा है कि

सदानन्द के विषय में बड़ी खोज की। कुछ स्पष्ट नहीं मिला। तथापि कतिपय प्राचीन विद्वानों के द्वारा पता चला कि सदानन्द सारस्वत ब्राह्मण थे। इनका जन्म पंजाब प्रदेश में रावलपिण्डी के 'कुन्त्रीला' ग्राम में हुआ था। पुराण वाचन इनकी जीविका थी। एक बार बाबा रामदयालु उदासीन के साथ काशी आये। यहाँ पर 'बालूजी का फरस' के बगीचे के मन्दिर में इनकी कथा होती थी। इन्होंने 'शङ्कर दिग्विजयसार' नामक स्वरचित ग्रन्थ के अन्त में अपने रचना काल का निर्देश किया है।

रसगुणवसुचन्द्रे (१८३६) विक्रमादित्यराज्यात्—
समफलवति वर्षे चाश्विने मासि शुद्धे।
श्रवणयुतदशम्यां सोमवारेऽलिलग्ने।
ग्रथित इति निबन्धः सिद्ध ईशप्रसादात्।

इस प्रकार इनका जन्मकाल अठारहवीं शताब्दी का अन्तकाल प्रतीत होता है।

३—तीसरे सदानन्द वेदान्तसार के कर्ता हैं, जिनके समय के विषय में उनके ग्रन्थ से कुछ भी पता नहीं चल रहा है। फिर भी उन्होंने ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में अपने गुरु का नाम 'अद्वयानन्द' निर्दिष्ट किया है। इससे यह तो सिद्ध होता है कि अद्वयानन्द यति के शिष्य सदानन्द यति थे।

वेदान्तसार पर श्रीनृसिंह योगी की सुबोधिनी टीका मिलती है। उन्होंने अपने समय के निर्देश में लिखा है—

जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः
संजाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाह शके।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेनुमत्यां तिथौ
प्राप्ते भार्गववासरे, नरहरिष्टीका चकारोज्ज्वलाम्।

इससे सिद्ध होता है कि १५१० शक में नरहरि ने यह टीका रची है। यह काल विक्रम संवत के अनुसार १६४५ होता है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर मानना पड़ता है कि सदानन्द यति उपर्युक्त दोनों सदानन्दों से भिन्न हैं। और इनका समय सोलहवीं शताब्दी का अन्तभाग प्रतीत होता है। इस निर्णय में जेकब का यह मत अवश्य ध्यान देने योग्य है कि श्रीनृसिंह यति ने लिखा है कि "वेदान्तसाराख्ये ग्रन्थे श्रीमत् परमगुरुपरमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दयोगीन्द्रेण इत्यादि–यदि हम परमगुरु शब्द का गुरु का गुरु अर्थ करें तब तो इनका उपर्युक्त समय मानना युक्ति संगत भी होता है। इस प्रकार अबतक उपलब्ध तथ्यों के आधार पर इनका समय सोलहवीं शतीका अन्त माना जाना चाहिए।

वेदान्तसार

यह बताया जा चुका है कि मीमांसाशास्त्र दो प्रकार का है : एक पूर्वमीमांसा और दूसरा उत्तरमीमांसा जो वेदान्त शब्द से कहा जाता है। वेदान्त शब्द के दो अर्थ हैं एक मुख्य दूसरा गौण। वेद शब्द संहिता, ब्राह्मण दोनों में प्रयुक्त होता है। अतः 'वेदस्य अन्तः वेदान्तः' व्युत्पत्ति के अनुसार संहिता तथा ब्राह्मणों के अन्तिम भाग का नाम वेदान्त होगा। यह अन्तिम भाग रहस्यमय होता है। अत एव उपनि पूर्वक क्विप् प्रत्ययान्त षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु धातु से बने हुए उपनिषत् शब्द का इन भागों के लिए प्रयोग होता है। उप शब्द समीपार्थक होता है। निशब्द का निश्चय अर्थ है। इस प्रकार प्रत्यगात्मतत्त्व के समीप निश्चय रूप से पहुँचाने वाली विद्या होने के कारण 'उप समीपे निश्चियेन सादयति गमयति' व्युत्पत्ति के अनुसार उपनिषत् का अर्थ रहस्य शास्त्र मुख्यवृत्ति में होता है। इनका उपकारक होने के कारण शारीरक सूत्र तथा उनपर या इस विद्या से सम्बद्ध निबन्धों को भी वेदान्त शब्द से गौणवृत्ति में कहा जाता है।

सदानन्दयति ने इस रहस्य मयी वेदान्तविद्या में प्रवेश पाने के लिए वेदान्तसार नामकें ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थ के अधिकारी

हैं सारग्रहणेच्छु जन, निर्गुणसारमात्र विषय, निर्गुणरूपका निश्चय करना प्रयोजन तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। इसप्रकार वेदान्तशास्त्र के प्रमेय तत्वों के परिचय प्राप्त करने में यह ग्रन्थ परम सहायक है।

वेदान्त शास्त्रमें ज्ञान, ज्ञय, ज्ञाता, ईश्वर तथा मोक्ष के सम्बन्ध में कुछ कहना बड़ा कठिन है तथापि कहा जा सकता है कि एक चेतन तत्व है जो अनादि अविद्या की शक्तियों से आवृत होकर ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता तथा ईश्वर रूपमें भासित होता है। उस आवरण की निवृत्ति ही मोक्ष है।

ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय

अब हम यहाँ वेदान्त सिद्धान्त के केवल प्रमेयांश पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखेंगे, जिससे वेदान्तकी प्रक्रिया समझने में बड़ी सहायता मिलेगी। यही वेदान्तसार का प्रतिपाद्य विषय है।

आत्मा—मूलतः आत्मा सत्य है। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है सब मिथ्या है भ्रम है। वेदान्त सिद्धान्त में आत्मा और ब्रह्म पर्याय वाचक हैं। 'अततीति आत्मा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अत धातु से औणादिक मनिण् प्रत्यय होने पर आत्मन् शब्द बनता है। यद्यपि अत धातु का सातत्यगमन अर्थ है तदनुसार दीपज्योति के समान क्षणभंगुर ही आत्मा मानना उचित प्रतीत होता है तथापि गमन का ज्ञान भी अर्थ है। अतः जो नित्य ज्ञान का विषय है आश्रय है या ज्ञान रूप है आदि अर्थोंमें आत्मा शब्दका प्रयोग होता है। कुछ लोग आप्लृ व्याप्तौ स्वादिगणी धातुसे 'आप्नोतीति आत्मा' सिद्ध करते हैं तथा व्यापक होने के कारण आत्मा शब्द की सिद्धि करते हैं। किन्तु यह आत्मन् शब्द समस्त दार्शनिकों के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं होगा। ब्रह्म शब्द बृंहणात् ब्रह्म व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा का पर्याय वाचक

है। यद्यपि अन्य दार्शनिकों ने ब्रह्म शब्द पर मत नहीं व्यक्त किये हैं तथापि आत्मा और ब्रह्म के एक होने से ब्रह्म की कोई नयी कल्पना नहीं है। यह सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। यद्यपि ब्रह्म निर्गुण, निर्धर्म है फिर उसे सत् चित् आनन्द रूप कहना विपरीत है तथापि सच्चिदानन्द कहना केवल औपचारिक है। वास्तविक बात तो यह है कि सच्चिदानन्द का अर्थ है जो असत् अचेतन निरानन्द नहीं है। यही 'नेति नेति' श्रुति का तात्पर्य भी है। यह आत्मा ज्ञान का आश्रय नहीं किन्तु ज्ञान स्वरूप है।

अज्ञान (माया और अविद्या) ब्रह्म के निर्विशेष और निर्लक्षण होने से सविशेष सलक्षण जगत् की रचना कैसे हुई? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए अज्ञान का स्वरूप जानना आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान (ब्रह्म) वस्तु है और अज्ञान (सकल जड़ समूह) अवस्तु है, तो पर्याप्त है। अज्ञान को ही माया तथा अविद्या शब्द से भी कहा जाता है। यह अज्ञान ज्ञानाभावरूप नहीं है किन्तु अनिर्वचनिय है। सत् इसलिए नहीं कि ज्ञान से बाधित है असत् इस लिए नहीं कि प्रतीत हो रहा है अतः दोनों से विलक्षण होने से अनिर्वचनीय है। त्रिगुण, ज्ञानविरोधी तथा भावरूप है। अत एव (अहमज्ञः) यह अनुभव साकार होता है। माया परमेश्वर (ब्रह्म) की बीज शक्ति का नाम है। परमेश्वर इसी माया से प्रवृत्ति पाकर सृष्टि करता है। इसे ही 'अव्यक्त' कहते हैं। यह अग्नि की दाहात्मिका शक्ति की भाँति ब्रह्म से अपृथग्भूता है। यह प्रमाणासहिष्णु है अतः अविद्या भी कहा जाता है।

माया की कुछ विशेषतायें—

१—सांख्य की प्रकृति की भाँति यह भी अचेतन और जड़ है। किन्तु सत् न होने के कारण यह प्रकृति की भाँति स्वतन्त्र नहीं है अपितु अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर आधारित है।

२—यह ब्रह्म की शक्ति है—उससे अविभाज्य एवं पूर्णतः उस पर आश्रित है। माया और ब्रह्म का सम्बन्ध भी एक विशेष प्रकार का है। यह 'तादात्म्य' कहलाता है—न ब्रह्म से एकरूपता है, न भेद, न दोनों। माया एक और अद्वितीय ब्रह्म में नामारूपात्मक जगत् की उत्पत्ति करा देती है।

३—ब्रह्म की बीजरूपा शक्ति होने के कारण यह अनादि है।

४—यह भावरूप है—तथापि सत् नहीं है, इसे भावरूप केवल अभावात्मक न होने के कारण कहा जाता है। इस भावरूप के भी दो भेद हैं (क) अभावात्मक—जिससे यह आवरण करती है और (ख) भावात्मक - जिससे यह विक्षेप उत्पन्न करती है। यह अप्रतीति भी है और विपरीत प्रतीति। आवरणशक्ति के नाते अप्रतीति रूप है और विक्षेप शक्ति से भ्रम उत्पन्न करती है अतः विपरीत प्रतीति रूप भी है।

५—न यह सत् है न असत्, अतः, अनिर्वचनीय है।

६—इसकी व्यावहारिक ही सत्ता है।

७—यह भ्रान्ति और अध्यास की जननी है। ब्रह्म में जगत् का भ्रम कराती है।

८—यह ज्ञान से नष्ट हो जाती है।

९—इसका आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म (जीवपदा ब्रह्मविषया)। यह जीवों के वास्तविक स्वरूप ब्रह्म को छिपा लेती है।

अज्ञान की दो शक्ति—अज्ञान में दो शक्तियां हैं एक आवरण शक्ति दूसरी विक्षेप। आवरण शक्ति प्रकाश रूप ब्रह्मको आवृत करती है और विक्षेप शक्ति उसमें जगत् की भ्रांति करा देती है। आवरण शक्ति तमोगुण बहुला है और विक्षेपशक्ति रजोगुण बहुला। इस प्रकार यदि हम इस स्वरूप का ध्यान करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त

प्रकाशमय ब्रह्म की शुक्ल रक्त और कृष्ण वर्णों के मिश्रण रूपा अनादि सिद्ध माया नाम की शक्ति में जगत् प्रतिभासित होता है। वस्तुतः जगत् उस माया की महिमा है जो प्रकाश को आवृत कर लेती है और भ्रान्त बना देती है। मान लीजिए सूर्य प्रकाश ब्रह्म है मेघ कहीं उज्वल, कहीं लाल और कहीं काला है कहीं मेघ भी नहीं है। किन्तु जहाँ बादल है वहाँ तीनों वर्णों के सम विषम मिश्रण से सूर्य का प्रकाश विभिन्न रूप से नीचे आता है तथा मेघ के नीचे का संसार विभिन्न परिस्थितियों को देखता है। इसी काल में विद्यार्थी अक्षर देखने में बल लगाता है, खेतिहर अपने खेती का अवसर देखता है, मजदूर अपनी प्रियतमा के साथ शय्या पर पड़ा रहने में आनन्द मानता है। एक दूसरा एक दूसरे के व्यापारमें न तो बाधा खड़ा करता है और न तो योगदान ही देता है वैसे विभिन्न प्रकार के आत्मा अपने-अपने कार्य करते हैं। यहाँ यह समझना बड़ा आवश्यक है कि मेघ की भाँति अज्ञान (माया) तीन गुण का आश्रय है यह समझना भूल होगी। वास्तव में यह माया की चुनरी सूत से नहीं बनी है किन्तु उन्हीं गुणों से बनी है। अत एव ज्ञान मात्र से इसकी निवृत्ति होती है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि अनादि और अनन्त ब्रह्म की अनादि माया का अन्त होता है। इसी अन्त से पुनः स्वरूपावस्थिति रूप मोक्ष होता है। जगत् दुःखमय है स्वरूपावस्थिति ही सुख है। यह जगत् अज्ञान है ज्ञान ही ज्ञाता का स्वरूप है उसके ज्ञानके लिए यह वेदान्त विद्या है।

अज्ञान के दो भेद—अज्ञान (अविद्या) ऊपर बताये हुए प्रकार से अपनी आवरण शक्ति द्वारा जब सब वस्तु ढक लेती है तब समस्त ढकने के तात्पर्य से समष्टि कहते हैं और एक-एक के ढकने के तात्पर्य से व्यष्टि कहते हैं। इसी प्रकार विक्षेपशक्ति द्वारा समष्टि में भ्रान्ति होती है और व्यष्टि में भी भ्रांन्ति होती है। यही भ्रान्ति ही जगत् है।

समष्टि (ईश्वर)—यही निर्विशेष ब्रह्म माया रूप उपाधि से

जब आवृत्त होता है तब सविशेष सगुण ईश्वर कहा जाता है। यही ईश्वर जगत् की सृष्टि स्थिति और लय का कारण है। यही जब सत्व गुण प्रधान माया से आवृत होता है तब विष्णु कहा जाता है। जब रजोगुण प्रधान माया से आवृत होता है तब ब्रह्मा कहा जाता है। जब तमोगुण प्रधान माया से आवृत होता है तब महेश कहा जाता है। अब यहाँ शंका उठती है कि जब ईश्वर आप्तकाम आत्मा-राम है तब किन प्रयोजनों के लिए सृष्टि करता है। ठीक है जैसे लोक में सकल स्थिति से परिपूर्ण पुरुष केवल इस लिए व्यापार करता है कि कुछ चहल-पहल बनी रहे। वैसे सर्वकाम ईश्वर भी लीला के लिए जगत् की सृष्टि करता है।

ईश्वर जगत का द्विविध कारण

अब यह प्रश्न उठता है कि जब जगत प्रतिभास मात्र है तो ईश्वर इसको किन सामग्रियों से बनाता है। जैसे न्याय मत में ईश्वर परमाणुओं से जगत का निर्माण करता है। वह जगत की उत्पत्ति में निमित्तकारण है और परमाणु आदि समवायिकारण (उपादान कारण) हैं, वैसे तो वेदान्त मत में ईश्वर निमित्तकारण यदि है तो उपादान क्या बनेगा। ठीक है, ईश्वर निमित्तकारण है इस अंश में तो विवाद ही नहीं हैं। केवल उसके उपादानकारण होने में विवाद है कि यदि हम ईश्वर को उपादानकारण भी मान लें तो चेतन ईश्वर से चेतन जगत् की उत्पत्ति होने लगेगी। जैसे जड़ मृत्तिका से जड़ घट की उत्पत्ति होती है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अचेतन गोमय पिण्ड से चेतन वृश्चिक तथा चेतन देह से अचेतन नख तथा केशों की उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाय कि भोग्य जगत् और भोक्ता आत्माका उपादानकारणके रूपमें एक होना न्याय संगत नहीं, तो ठीक नहीं क्योंकि जैसे लहरी और समुद्रमें एक होते हुए भी दो व्यवहार होते हैं। मिट्टी तथा घटों में वास्तव एकता में भी अनेक व्यवहार

होते हैं वैसे ब्रह्म और जगत् के अभेद होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान हैं।

जीव (व्यष्टि प्राज्ञ) अज्ञान की व्यष्टि (प्राज्ञ) कारण शरीर कही जाती है। अज्ञान का यह व्यष्टि अविद्या रूपी उपाधि से आवृत होने से प्राज्ञ कही जाती है। यह शरीर और इन्द्रियों का अध्यक्ष तथा कर्म फल भोक्ता है। यह आत्मा विभु है। जीव की वृत्ति दो प्रकार की है। एक वहिर्मुख दूसरी अन्तर्मुख। जब वे वहिर्मुख होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती हैं। जब अन्तर्मुख होती हैं तब 'अहं' कर्ता को प्रकाशित करती हैं। बुद्धि के सम्पर्क से आत्मा में चचलता आती है वह वास्तव में शान्त है।

इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों अज्ञानोपहित चैतन्य हैं। ब्रह्म ही अज्ञानोपहित स्थिति में ईश्वर और जीव है। शुद्ध रूप में ब्रह्म है। अतः यदि कहा जाय कि अविद्या, ईश्वर, जीव और ब्रह्म जो चतुर्थ (तुरीय) है कुल ज्ञेय हैं। इनमें ईश्वर और जीव दोनों कर्ता हैं। ईश्वर स्वयं निमित्तकारण तथा उपादानकारण है। जीव भी स्वयं निमित्तकारण तथा उपादानकारण है। जैसे लूता चेतन प्रधान होकर तन्तु कार्य उत्पन्न करती है तथा शरीर की प्रधानता में तन्तु कार्य की सामग्री प्रस्तुत करती है।

ईश्वर और जीव का नाम भेद—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं, अन्नमय, मनोमय प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों में उपलब्ध आत्मचैतन्य, स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीरों की व्यष्टि अभिमानी जीव की क्रमशः विश्व, तैजस और प्राज्ञ संज्ञायें हैं। इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी ईश्वर की क्रमशः वैश्वानर (विराट्) सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर संज्ञायें हैं।

इनको निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है—

शरीर	चैतन्य		कोश	अवस्था
स्थूल	समिष्ट	वैश्वानर		
	व्यष्टि	विश्व	अन्नमय	जाग्रत
सूक्ष्म	समष्टि—	सूत्रात्मा	मनोमय	
	व्यष्टि	तैजस	प्राणमय	स्वप्न
			विज्ञानमय	
कारण	समष्टि	ईश्वर		
	व्यष्टि	प्राज्ञ	आनन्दमय	सुषुप्ति

इस प्रकार ईश्वर जगत की रचना करता है। जैसे कोई ऐन्द्र-जालिक अपनी विद्या से नयी दुनिया तैयार कर देता है वैसे ईश्वर भी अपनी माया शक्ति से विचित्र जगत बनाता है। जैसे इन्द्रजाल का रहस्य जानने वाला व्यक्ति उसके व्यामोह में नहीं पड़ता वैसे माया का रहस्य समझने वाला जीव बन्धन में नहीं फंसता। यहां पर यदि हम सिनेमा को देखें तो वात सरल हो जाती है। जैसे सिनेमा की रील जव प्रकाश के सामने पड़ती है तब उसमे अंकित चित्र परदे पर पड़ता है और परदे पर एक नई दुनिया दिखाई देती है। यदि प्रकाश बुझ जाय, अथवा रील समाप्त हो जाय अथवा परदा फट जाय तो दुनिया का दिखाई पड़ना वन्द हो जाय। वैसे चैतन्य के प्रकाश से माया (रील) के सम्बद्ध होने पर अविधा (परदे) पर जगत दिखाई देता है। यह चैतन्य प्रकाश नित्य है अतः बुझ नहीं सकता। माया भी ज्ञास से ही निवृत्त होती। फिर इस खेल की समाप्ति के लिए परदे का ही नष्ट होना आवश्यक है। यहीं परदा प्रत्येक जीव का अवोध है उसके दूर हो जाने पर मुक्ति हो जाती है।

अब हमें यहां यह विचारना है कि जब ईश्वर जगत का कारण है और माया उपादान कारण है। प्रश्न उठता है कि कार्य कारण भाव में कार्य का कारण से आरम्भ होता है या कारण ही कार्य रूप

में परिणत हो जाता है। प्रथम पक्ष को आरम्भवाद कहते हैं यह नैय्यायिकों का मत है जो परमाणु से जगत का (आरम्भ) मानते हैं। दूसरा पक्ष सांख्य शास्त्रियों का है वे प्रकृति के विकार से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। अद्वैत मत में विवर्तवाद है। तात्पर्य यह है कि घट आदि मिट्टी ही है भिन्न नहीं फिर भी यह घट है नाद नहीं, यह कोसा है हंडी नहीं व्यवहार होता है फिर भी सब मिट्टी हैं एक है यह भेदमें अभेद या अभेद में भेद कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका उत्तर एक ही हो सकता है कि परमार्थतः एक ही वस्तु है अनेक बुद्धि या भेद बुद्धि कल्पित है। इस प्रकार चैतन्य की सत्ता ही परमार्थ है इसके अतिरिक्त जगत की सत्ता प्रातिभासिक है। क्योंकि सत्ता तीन प्रकार की हैं—

१—प्रातिभासिक सत्ता, २—व्यावहारिक सत्ता, ३—पारमार्थिक-सत्ता।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

(१) प्रातिभासिकसत्ता—वह सत्ता जो प्रतीति काल में तो सत्य स्वरूप प्रतिभासित होता हो किन्तु उत्तरकाल में बाधित हो जाय। जैसे—रस्सी में सर्प अथवा शुक्तिका में रजत।

(२) व्यावहारिक सत्ता—वह सत्ता जो कि व्यवहार के लिये संसार के सम्पूर्ण पदार्थों नामरूप में रहती है। क्योंकि सांसारिक पदार्थों का कोई नाम है और कोई रूप भी। इन नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता सांसारिक व्यवहार के लिये अत्यन्त आवश्यक है किन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर यह बाधित हो जाती है अतः नितान्त सत्य नहीं है।

(३) पारमार्थिक सत्ता—वह सत्ता जो कि इन सम्पूर्ण पदार्थों से नितान्त विलक्षण एवं त्रिकाल में अबाध्य होने के कारण ऐकान्तिक सत्य है।

इस प्रकार यह सब दृश्य जगत् हमारी स्थूल इन्द्रियों के लिये तो अवश्य सत्य है किन्तु जब इसे ही ज्ञान की दृष्टि से देखते हैं तो यह सब असत्य हो जाता है, फिर भी जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो जाय तब तक इसमें व्यावहारिक दृष्टि कोण ही रखना उचित है, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार इस नाम-रूपात्मक जगत् के उत्तरोत्तर परिज्ञान के अनन्तर ही सम्भव है अन्यथा नहीं। इसी व्यावहारिक सत्ता की शक्ति से इस संसार के सम्पूर्ण व्यवहार नियन्त्रित हैं अन्यथा परमार्थतः मिथ्या बड़े-बड़े मिल-मालिकों का धन अपना समझकर (क्योंकि यह माया है) जो चाहे रख सकता है।

बन्धन

मोक्ष का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की सर्वप्रमुख विशेषता है। प्रत्येक दर्शन में यह किसी न किसी रूप में विद्यमान है। प्रत्येक दर्शन यह मानता है कि यह संसार कष्टों से भरा हुआ है और कुछ विशेष साधनों से इससे छुटकारा पाया जा सकता है।

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्तीति।"

वेदान्त के अनुसार जगत् असत्य, जड़ और दुःखमय है। केवल ब्रह्म ही सत्, चित् और आनन्द है। जीव और ब्रह्म एक हैं। जब तक द्वैत का भान कराने वाली अविद्या से जीव युक्त रहता है तभी तक उसकी वैयक्तिक सत्ता रहती है। अविद्या में सोता हुआ वह जब ज्ञान से जागरित होता है तो उसे पता चलता है कि वह न शरीर है, न इन्द्रिय, न मन, अपितु अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। अविद्या के कारण ही उसमें अहंभावना और ममता उत्पन्न होती है। शरीर आदि उपाधियों के संसर्ग से वह अपने स्वरूप चैतन्य को भूल जाता है। यही बन्ध है।

ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। पर मोक्ष या 'ब्रह्मत्व' प्राप्ति का कथन केवल उपचार मात्र है। जैसे पास रखे हुए एक रक्त पुष्प के कारण स्फटिक लाल प्रतीत होने लगता है अथवा जैसे स्वच्छ और रङ्गहीन आकाश भी नीला दिखाई पड़ता है उसी प्रकार आत्मा को जीव समझ लिया जाता है। जैसे एक ही सूर्य विभिन्न घड़ी में रखे हुए जल में विभिन्न रूपों में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार एक ही परमात्मा विभिन्न उपाधियों के कारण अनेक जीवों के रूप में प्रतिभासित हो ा है—

'एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुः अविद्यया मायया मायाविवद् अनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति।'

माया की आवरण शक्ति बड़ी प्रबल हैं। अनन्त, विभु, स्वतः प्रकाशमान प्रत्यक् चैतन्य अखण्ड ब्रह्म के स्वरूप को उसी प्रकार ढक लेती है जैसे राहु निर्मल तेजोमय सूर्य को ढक लेता है और जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। आत्मा के तिरोहित होने पर व्यक्ति अनात्म शरीर को ही मोह से 'मैं हूँ' ऐसा मानने लगता है। तब रजोगुण बहुला विक्षेप नाम वाली माया की प्रबल शक्ति अपने काम-क्रोधादि बन्धनकारी गुणों से इसको भ्रान्त करने लगती है।

इसी विक्षेप शक्ति वाली माया के द्वारा अध्यास उत्पन्न होता है। 'अतस्मिन् तद्‌बुद्धिः' को अध्यास कहते हैं। सम्पूर्ण स्थावर, जङ्गम, जड़, चेतन प्रपञ्च ब्रह्म मात्र है जो एक तथा अद्वितीय है। पर माया की विक्षेपशक्ति इसमें अनेकरूपात्मक जगत् का भ्रम उत्पन्न कर देती है जिससे जीव भ्रान्त होकर संसार को सत्य समझने लगता है। इस प्रकार दोनों ओर से अज्ञान की शृंखला में जकड़ जाने से वह पूर्णतः बद्ध हो जाता है।

इन्हीं दो शक्तियों से जीव को बन्धन की प्राप्ति हुई है—इन्हीं से मोहित होकर इस देह को आत्मा मानलेता है और संसार-चक्र में घूमता रहता है।

मोक्ष

आचार्य शंकर ने मोक्ष को मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ माना है। जो व्यक्ति मनुष्यजन्म पाकर भी मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं करता वह आत्महा' है—

य: स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्।

यह मुक्ति केवल ज्ञान से उत्पन्न हो सकती है, कर्मों से नहीं। फल को उत्पन्न करने के कारण कर्म त्याज्य हैं। 'अविद्याकामकर्म' की शंकर ने पुनः पुनः चर्चा की है। अविद्या काम (इच्छा) का कारण है। काम अच्छा आसक्ति और द्वेष ये सब फलोंको उत्पन्न करते हैं। भले ही वे शुभ फल हों या अशुभ। दोनों ही नये जन्मों के कारण हैं। जब कर्मरूपी बीजों का विद्यारूपी अग्नि से विनाश हो जाता है तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिये काम्य और निषिद्ध दोनों प्रकार के कर्मों को त्याग कर ही पुरुष वेदान्त विद्या का अधिकारी बनता है। कर्म केवल चित्तशुद्धि के लिये हैं, उनसे ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती—

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः॥

आत्मा कर्ता नहीं है. वह निष्क्रिय है। वह कर्मों का फल भी नहीं भोगता। वह प्रसन्नता, दुःख आदि का अनुभव नहीं करता। अतः जीव के किये गये कार्यों का मो से कोई सम्बन्ध नहीं।

शंकराचार्य ने मोक्ष की प्राप्ति के साधन ज्ञान के लिए कुछ गुणों पर भी बल दिया है। ब्रह्मज्ञान का अधिकारी वह है जो नित्य स्वर्गादि तथा अनित्य संसार आदि वस्तुओं से विरक्त हो। जो शम, दम, उपरति एवं तितिक्षा से युक्त हो। जिसने सम्पूर्ण काम्य कर्मों तथा इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति छोड़ दी हो। जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा

गुरु के वाक्यों में श्रद्धा से युक्त हो। ऐसा ही व्यक्ति उस अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है जिस ब्रह्मज्ञान को पाकर वह स्वतः ब्रह्म हो जाता है।

शंकराचार्य ने दो प्रकार की मुक्तियों को स्वीकार किया है—जो ब्रह्म के प्रतीक 'ॐ' की उपासना करता है वह ब्रह्मलोक को जाकर धीरे-धीरे ब्रह्म का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके 'मुक्ति' प्राप्त करता है। इसी प्रकार सगुण ब्रह्म की उपासना से भी पाप नष्ट होते हैं, ईशित्व प्राप्त होता है, उपास्यदेव के लोक को जाकर साधक उसका सारूप्य प्राप्त करता है और उसकी भी धीरे-धीरे मुक्ति होती है। पर ज्ञानी पुरुष यहीं पर और तत्क्षण मुक्त हो जाता है। पहले वह जीवन्मुक्ति की दशा में रहता है और फिर शरीरक्षय के अनन्तर विदेह मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

वेदान्त के अनुसार सृष्टि की प्रक्रिया

सृष्टि की उत्पत्ति क्यों होती है यह दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि इतने प्राणियों के जन्म लेने का उद्देश्य क्या है? शङ्कराचार्य कहते हैं कि इसका कोई प्रयोजन नहीं, ईश्वर केवल लीला के लिये ही सृष्टि करता है—यह उसका स्वभाव ही है। जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि की उत्पति और विनाश होता रहता है—

श्रुति कहती है कि जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर में केश तथा नख इत्यादि उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता रहता है—

तमोगुणप्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त ब्रह्म (=ईश्वर) ही सृष्टि का कारण है। उससे सर्वप्रथम सूक्ष्मतम आकाश की उत्पत्ति होती है—क्रमशः आकाश से स्थूलतर वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। सृष्टि में जड़ता का प्राधान्य है अतः

उसके कारण ईश्वर को भी तमोगुण से युक्त विक्षेपशक्ति से उपहित माना जाता है। ये पाँचों तत्व अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और व्यक्त नहीं होते, अतः इन्हें सूक्ष्मभूत या तन्मात्रा कहा जाता है। इन तन्मात्राओं में अपने कारण (माया) के तीनों गुण आ जाते हैं।

इन तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश से पृथक् पृथक् पाँच इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। आकाश तन्मात्रा से श्रोत्र, वायु तन्मात्रा से स्पश, अग्नि तन्मात्रा से चक्षु, जल तन्मात्रा से जिह्वा तथा पृथ्वी तन्मात्रा से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इन पाँचों का निवासस्थान क्रमशः कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका में है और ये क्रमशः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का अनुभव कराती है।

आकाशादि तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश की समष्टि से बुद्धि और मन नाम की दो अन्तः करण-वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति है और मन संकल्प-विकल्पात्मिका। चित्त का बुद्धि में और अहंकार का मन में अन्तर्भाव है। ये सभी प्रकाश स्वरूप हैं अर्थात् वाह्य संसार का ज्ञान कराती हैं इसलिए इनको सत्वगुण से उत्पन्न माना गया है।

बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर विज्ञानमय कोश बनाता है। विज्ञानमय कोश से परिछिन्न चैतन्य ही जीव है। यही कार्य करता है, उन्हें भोगता है, सुख-दुःख का अभिमान करता है तथा कृतकर्मों की फलप्राप्ति के लिए इहलोक तथा परलोक में संसर करता है। विज्ञानमयय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तारूप है।

मन और ज्ञानेन्द्रियों के सम्मिलन से मनोमय कोश बनता है। यह इच्छा शक्ति से युक्त होता है अतः साधन रूप है। यह आकाशादि पञ्च तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश की सृष्टि है।

आकाशादि के राजस अंश से कर्मेन्द्रियों और प्राणों की उत्पत्ति होती है। कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति तन्मात्राओं से पृथक्-पृथक

होती है। आकाश से वाग्, वायु से हस्त, अग्नि से पाद, जल से वायु तथा पृथ्वी से उपस्थ कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इनमें क्रिया प्रधान है अतः इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। प्राणों की उत्पत्ति पांचों तन्मात्राओं के मिश्रण से होती है। प्राणवायु पाँच हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। प्राण नासिका के अग्रभाग में रहता है। इसकी गति ऊपर की ओर होती है। अपान पायु इत्यादि स्थानों में रहता है। इसकी गति नीचे की ओर होती है अतः यह मल मूत्रादि को शरीर के बाहर निकालता है। व्यान समस्त शरीर में रहता है। इसकी गति चारों ओर है। उदान कण्ठ में रहता है। यह जीवात्मा को ऊपर ले जाता है। पंच प्राण और कर्मेन्द्रियों का यह समूह प्राणमय कोश कहलाता है। यह क्रिया शक्तिमान होने के कारण कार्यरूप है।

दसों इन्द्रियों, पंच प्राणों तथा मन और बुद्धि, इन सत्रह अवयवों को मिला कर मनुष्य का सूक्ष्म शरीर बनता है।

स्थूल शरीर की उत्पत्ति आकाशादि पाँच स्थूल भूतों से होती है। तन्मात्राओं से स्थूल भूतों की उत्पत्ति की प्रक्रिया को पञ्चीकरण कहते हैं। सूक्ष्मभूतों में प्रत्येक के दो भाग हो जाते हैं। एक-एक भाग वैसा रहता है पर दूसरे भाग के पुनः चार-चार भाग हो जाते हैं। अब उस प्रथम अर्धभाग में शेष चारों भूतों का एक-एक भाग मिल जाता है। उदाहरण—आकाश महाभूत में आधा आकाश सूक्ष्म भूत का और ⅛ अंश अन्य चार सूक्ष्म भूतों के होते हैं। इस प्रकार वह पूर्ण हो जाता है। ये पाँचों स्थूल भूत अत्यन्त जड़ हैं अतः तमोगुण से युक्त हैं। आकाश सूक्ष्मभूत से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। अतः पृथ्वी में पाँचों सूक्ष्मभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं। जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस हैं। अग्नि शब्द, स्पर्श तथा रूप से युक्त है। वायु में शब्द तथा स्पर्श हैं और आकाश में केवल शब्द है।

इन्हीं पाँच स्थूल भूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् इन सात ऊपर के लोकों की और तल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल महातल और पाताल नामक सात नीचेके लोकों की तथा उनमे रहने वाले प्राणियों के स्थूल शरीरों एवं उनके भोजन आदि की उत्पत्ति होती है। स्थूल शरीर चार प्रकार के होते हैं—जरायुज—गर्भाशय से उत्पन्न होने वाले मनुष्य-पशु आदि, अण्डज—अण्ड से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प, मत्स्य आदि; स्वेदज—स्वेद से उत्पन्न होने वाले जुँये, मच्छर तथा अन्य कीड़े और उद्भिज—भूमि के भीतर से उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि। अन्न से उत्पन्न होने वाले इस स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहते है।

इन स्थूल सूक्ष्म शरीरों की समष्टि एक महान् प्रपंच का निर्माण करती है—महाप्रपञ्च और उससे उपहित चैतन्य दोनों ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस महावाक्य में 'इदं सर्वम्' के वाच्य अर्थ हैं किन्तु लक्षणा से इसमें वर्तमान शुद्ध चैतन्य मात्र का बोध होता है।

प्रलय के समय व्युत्क्रम से यह जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। चौदह भुवन, स्थूल शरीर आदि मिलकर पञ्चमहाभूतों में विभक्त हो जाते हैं। पञ्चीकृत महाभूत तथा सप्तदश अवयवों से युक्त सूक्ष्म शरीर अपने कारणभूत पञ्चतन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं। तन्मात्राएँ क्रमशः अपने-अपने कारण में लीन होती हुई अज्ञानोपहित चैतन्य में लीन हो जाती हैं। यह अज्ञानोपहित चैतन्य (ईश्वर) अपने आधार भूत तुरीय ब्रह्म में लीन हो जाता है और वही अखण्ड एक ब्रह्ममात्र अवशिष्ट बचता है। किन्तु इनके मत में प्रलय अभी हुआ नहीं है और न होने का निश्चय ही है क्योंकि अनादि माया के द्वारा उत्पन्न यह जगत सादि नहीं हो सकता तथा समस्त प्राणियों को विना ज्ञान हुई इसकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती है। अतः इनके मत में प्रलय की कल्पना केवल सम्भावना मात्र है अथवा खण्ड प्रलय है।

षोडश महावाक्य

जिनके अर्थ का विचार करना वाक्य शास्त्र का (विचार शास्त्र लक्ष्य है।

ऋग्वेदे—

ॐ स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्।

ॐ तद्योहं सोऽसौ योऽसौ सोहम्।

ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म।

ॐ प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ततमपश्यत्।

यजुर्वेदे—

ॐ अहं ब्रह्मास्मि।

ॐ यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।

ॐ खं ब्रह्म।

ॐ एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

सामवेदे—

ॐ तत्त्वमसि।

ॐ ब्रह्मैवेदं सर्वम।

ॐ आत्मैवेदं सर्वम्।

ॐ सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

अथर्ववेदे—

ॐ तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः

ॐ प्राणोहमस्मि प्राज्ञात्मा।

ॐ अयमात्मा ब्रह्म।

ॐ एष त आत्मा ब्रह्म।

इनमें से केवल 'तत्त्वमसि' उपदेश वाक्यार्थ और 'अहं ब्रह्मास्मि' अनुभव वाक्यार्थ का मूल ग्रंथ में विचार है।

वेदान्त और प्रमाण

वेदान्त सिद्धान्त में प्रमाणों का मानना कोई बड़ा महत्व पूर्ण कार्य नहीं है। अन्य दार्शनिकों द्वारा मान्य प्रमाण में इन्हें कोई आपत्ति भी नहीं है। क्योंकि प्रमाणों और प्रमेयों की सत्ता जब परमार्थतः नहीं है तब व्यवहारतः विवाद भी ठीक नहीं है। फिर भी वेदान्तियों ने निम्नलिखित छः प्रमाण स्वीकारे हैं—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। किन्तु प्रमाण इस ग्रन्थ का विचारणीय विषय नहीं है। अतः हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहेंग।

बस, ये ही वेदान्त के प्रतिपाद्य विषय हैं। उनके परिज्ञान मे उपयोगी इस वेदान्तसार ग्रन्थ की परम उपादेयता मानकर संस्कृत के सम्बन्ध में अध्ययन करने वालों के लिए प्रायः इसका अध्ययन अनिवार्य रूप से चलता है। इसीलिए इस पर प्राचीन विद्वानों से लेकर आज के विद्वानों ने भी अपनी लेखनी चलाई है। जिनमे कुछ तो अधिक विवेचन में पड़ जाने से बड़ी हो गई हैं। कुछ सामान्य टिप्पणी की भांति हैं। किसी ने भी नई भाषा में पूरे विषय का विस्तार नहीं किया। अतः वे आजकल के छात्रों के लिए उपयोगी न हो सकीं। इन्हीं स्थितियों को ध्यान में रख कर इस टीका का निर्माण किया गया है। यदि इससे छात्रों को कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपने इस परिश्रम का सफल मानूंगा।

अन्त में हम इसके मुद्रक श्री शरदकुमार साधक जी को हार्दिक बधाई देते हैं। जिन्होंने बड़े योगदान के साथ और शीघ्रता में इसको छात्रों तक पहुँचाने में सहायता दी है। मेरे बहुधन्धी स्वभाव से उन्हें कभी कभी रुकावट के अनुभव से कष्ट हुआ है, फिर भी वे बड़े नम्र शब्दों में ही मुझे तेज होने के लिए बाध्य करते रहे। मैं उनके स्वभाव और लगन से प्रसन्न रहा हूँ तथा ब्राह्मण होने के नाते उन्हें भी शुभाशीर्वाद देता हूँ।

वाराणसी २०२३ वि० —रामगोविन्दशुक्ल

विषय-सूची



॥ श्रीः ॥

वेदान्तसारः

दीपिका संस्कृत मयूख हिन्दी-व्याख्योपेतः



यतो वाचो निवर्तन्त अप्राप्य मनसा सह ।
पातु सः सुकृतैर्दृष्टः खेलन् दशरथाङ्गणे ॥१॥

वादतोषितविश्वेशसाधुवादोपबृंहिताः ।
प्रसिद्धास्तातपादानां जयन्ति विमला गिरः ॥२॥

न्यायव्याकरणाचार्यं मीमांसकशिरोमणिम् ।
सूर्यनारायणं शुक्लं नमामि पितरं गुरुम् ॥३॥

रामभद्रपदद्वन्द्वं भक्त्याराध्य मनोहरम् ।
रामगोविन्दशुक्लेन दीपिकेयं प्रकाश्यते ॥४॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिकामः शिष्टाचारफलकं शिष्टाचारानुमितस्मृतिकल्पितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकं नमस्क्रियाशीर्वाद-वस्तुनिर्देशात्मकत्रिविधमङ्गलप्रकारेषु स्वाभिमतदेवतातत्त्वानुसन्धानात्मकं मङ्गलमाचरति—

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥ १ ॥

अखण्डमिति (अहम्=सदानन्दः) अभीष्टस्य=ग्रन्थपरिसमाप्तेः, निःश्रेयसस्य वा सिद्धये प्राप्तये अखण्डम्=अनन्तम् सजातीयविजा-

तीयस्वगतभेदशून्यमित्यर्थः। सत् = नाशाभावोपलक्षितस्वरूपम् न तु अनृतं शून्यं वेत्यर्थः। चित्=ज्ञानं, स्वप्रकाशचैतन्यरूपमित्यर्थः। आनन्दं= परमानन्दस्वरूपम्। वाक् च मनश्च वाङ्मनसे तयोः गोचरः वाङ्मनसगोचरः न वाङ्मनसगोचरः=अवाङ्मनसगोचरः तम् अवाङ्मनसगोचरम्=इन्द्रियातीतम्, अखिलस्य=आकाशादिप्रपंचस्य, आधारम्=आश्रयम्, उत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणमिति यावत्। आत्मानम्=ब्रह्म, तत्पदत्वम्पदलक्ष्यमिति यावत्, आश्रये=एकत्वेन प्रतिपद्ये।१।

ननु मङ्गलाचरणात्मकं यत् कर्म तत् किं शास्त्रस्य अङ्गमिति कृत्वा प्रथमं क्रियते उत प्रधानं कर्म इति वा। यदि अङ्गतयाङ्गीक्रियते तर्हि तानि सन्निपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणि वा अङ्गस्य द्विविधत्वात्। तत्र न सन्निपत्योपकारकम् द्वाराभावात्। उपकारो हि द्वारम्। उपकारश्च करणशरीरनिर्वर्तनमेव। शास्त्रशरीरस्य शब्दार्थैकनिर्वर्त्यत्वात्। अन्यस्यानुपलब्धेः। न च शास्त्रप्रतिबन्धकदुरितोच्छेद एव द्वारमिति वाच्यम् उच्छेद्यस्य प्रतिबन्धकस्य सन्देहास्पदत्वेनोच्छेदकानुष्ठानाभावप्रसङ्गात्। नापि आरादुपकारकम्, अलौकिकस्य (विधिप्राप्तस्य) मङ्गलस्य अथ च रागतः प्राप्तस्य शास्त्रनिर्माणस्य लौकिकस्य एवं लौकिकालौकिकयोः कर्मणोरङ्गाङ्गिभावानुपपत्तिः शास्त्रनिर्माणक्रमेण, प्रकरणाभावात्। तस्मात् अनङ्गस्य मङ्गलस्य अनङ्गिनं शास्त्रारम्भं प्रति आरादुपकारकत्वाभावः।

यदि ज्योतिष्टोमादिवत् प्रधानं कर्म इति कृत्वा प्रथमं क्रियते तर्हि इदं कर्म नित्यं, नैमित्तिकम्, काम्यं वा। तत्र नाद्यः पक्षः। अहरहः सन्ध्यामुपासीदितिवत् यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीतिवद्वा अस्य नित्यत्वे प्रमाणाभावात्। नच 'यन्निमित्तफलसम्बन्धान्तरेण विहितं तन्नित्यम्' इति नमस्कारादौ नित्यत्वं स्यादिति वाच्यम् सन्ध्यावन्दनादेरिवास्यापि ग्रन्थारम्भे करणीयत्वानुपपत्तेः।

न द्वितीयः पक्षः। उपरागे स्नायादितिवत् मङ्गलं प्रति ग्रन्थस्यनिमित्तत्वे प्रतिपादकवचनाभावात्। नच शास्त्रारम्भं निमित्तीकृत्या-

नुष्ठानदर्शनात् समाचारबलादेव तन्निमित्ताकरं मङ्गलस्यानुमेयमिति वाच्यम्। नैमित्तिकं कर्म समाचारबलादन्यदुन्नेयं किमपि नास्तीति दृष्टान्ताभावेन अनुमातुमशक्यत्वात्।

न तृतीयः पक्षः। सच पञ्चधा भवितुमर्हति। ज्योतिष्टोमादिवत् श्रुत-फलसम्बन्धात् वा, रात्रिसत्रवदार्थवादिकफलसम्बन्धाद्वा, विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलसम्बन्धाद्वा, नमस्कार्यदेवतामहिमपर्यालोचनया स्वेच्छाप्राप्तफल-सम्बन्धाद्वा, सामर्थ्यप्राप्तयत्किञ्चित् फलसम्बन्धाद्वा। तत्र नाद्यः। विधेरेव मृग्यत्वे फलश्रुतिशङ्काया एवासम्भवात्। न द्वितीयः। असति-विधौ अर्थवादाशंका असति ग्रामे सीमविवादवदनवकाशा। न तृतीयः। स्वर्गार्थस्य विधेः ग्रन्थारम्भेऽनुष्ठानानुपपत्तेः। न चतुर्थः। पुत्रादि-कामनाया अधिकारिविशेषणाभावेन ग्रन्थारम्भे नमस्कारकरणानुप-पत्तेः। न च सर्वैनियमेन शास्त्रारम्भे नमस्कारकरणान्यथानुपपत्त्या तत्प्र-तिबन्धकोच्छेद एव फलम् तत्कामनयैवाधिकारिविशेषणत्वमस्तु इति वाच्यम्। प्रतिबन्धकसन्देहे अधिकारिसन्देह इति मङ्गलाचरणप्रवृत्त्यभाव-प्रसंगात्। न पञ्चमः। शास्त्रारम्भेऽनुष्ठानासम्भवदूषणग्रासात् इति चेन्न। अस्य काम्यकर्मत्वस्वीकारेणादोषात्। ग्रन्थसमाप्तिकामनैवाधि-कारिविशेषणम् इति न काचिदनुपपत्तिरिति दिक्।

मैं (सदानन्द) अपने ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्ति रूप अथवा निःश्रेय-सप्राप्तिरूप] अभीष्टकी सिद्धिके लिये उस ब्रह्मका आश्रय लेता हूँ जो अनन्त हैं, सत् है, क्षणभंगुर या शून्य नहीं, चित् (ज्ञान) रूप, स्वयं प्रकाशचैतन्य है, जड़ नहीं, आनन्द स्वरूप है दुःख नहीं, जिसका वाणी वर्णन नहीं कर सकती, जहाँ मन पहुँच नहीं सकता, जो समस्त [स्थावर-जङ्गमरूप जगत्] का आश्रय है। १।

शास्त्रप्रतिपाद्यदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं विधाय यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महा-त्मनः।' इति अभियुक्तोक्तदिशा गुर्वाराधनस्यापि आवश्यकत्वेन तदपि प्रदर्शयति।

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः ।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति ॥ २ ॥

अर्थतोपीति—अतीतं गतं द्वैतभानं यतः तस्मादतीतद्वैतभानतः= निरस्तसमस्तभेदज्ञानत्वात् यद्वा अतीतं गतं द्वैतं यस्मात् तदतीद्वैतं प्रत्यगात्मत्वं तस्य भानं साक्षात्कारः तस्मात्, अतीतद्वैतभानतः = ब्रह्मसाक्षात्कारात् अर्थतोऽपि अपि शब्दबलात् न केवलं शब्दतः संज्ञामात्रात् किन्तु शब्दतः अर्थतश्च अद्वयानन्दान् = अद्वयानन्दनाम्नः गुरून् आदरार्थे बहुवचनम् । आराध्य=उपास्य 'अनुपाशितवृद्धानां विद्यानातिप्रशीदति ।' इति उक्तेः । यथामति = बुद्धिमनतिक्रम्य वेदान्तसारं=वेदान्तानाम् = उपनिषद्वाक्यानां सारं=सिद्धान्तरहस्यं वक्ष्ये=प्रतिपादयिष्ये । एतेन अस्य ग्रन्थस्याध्ययनेन सिद्धान्तरहस्यज्ञानात् पुनर्ज्ञेयं नावशिष्यते इति अस्योपादेयतां सूचयति ॥ २ ॥

मैं समस्त भेद भावसे शून्य होने के नाते या ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने के नाते जो अपने सार्थक नाम से अद्वयानन्द है उन गुरूजी की आराधना करके अपनी मति के अनुसार वेदान्तसार कहूँगा । २ ।

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि, शारीरकसूत्रादीनि च । अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः । तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ॥ ३ ॥

ननु'वेदान्तसारं वक्ष्ये'इत्यत्र वेदान्तपदस्य कोर्थं इति चेत् शृणु, वेदान्तो नाम उपनिषत् प्रमाणम् उपनिषदः एव प्रमाणम्, उपनिषदो यत्र प्रमाणमिति वा तदुपकारीणि=वेदान्तार्थविचारानुकूलानि, शारीरकसूत्रादीनि च । आदि पदेन भगवद्गीताया अपि ग्रहणम् । शरीरमेव शारीरं तत्र भवः-शारीरको जीवः स सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैः तानि शारीरकसूत्राणि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादीनि । अत्र आदिशब्दः भाष्यादिवेदान्तग्रन्थसंग्रहार्थः । इत्थं वेदान्तशब्दः मुख्यया वृत्या वेदस्यान्तः अवसानभागः वेदान्तः इति व्युत्पत्या वेदभागभेदेषु, उपचारतश्च शारीरकादौ वर्तत इति विशेषः ।

ननु 'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः, इत्युक्तदिशा प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमनुबन्धचतुष्टयं वक्तव्यमिति चेन्न। अस्य ग्रन्थस्य वेदान्तप्रकरणग्रन्थत्वात् तदीयैः = वेदान्तीयैरेवानुबन्धैः अनुबन्धवत्तासिद्धेः न ते पृथगालोचनीयाः। तथा-चोक्तम्-शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः। इति।

ननु तर्हि वेदान्तशास्त्रस्य के अनुबन्धाः इति चेत् शृणु अनुबन्धो नाम अधिकारि-विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनानि।

वेदान्त उसे कहते हैं जिसमें उपनिषद् ग्रन्थ के वाक्य प्रमाण हों या जिसमें जीवका यथार्थ निरूपण किया गया हो। एवम् उनके विचारके अनुकूल शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र), भगवद्गीता तथा उनपर लिखे गये निबन्ध भी वेदान्त कहे जाते हैं। यह ग्रन्थ वेदान्तका प्रकरण ग्रन्थ है अतः वेदान्त के जो अनुबन्ध हैं वे ही इसके भी अनुबन्ध हैं। इसलिए उनका यहाँ पर अलग वर्णन या आलोचना नहीं करना चाहिए। 'जो शास्त्रके एक देशसे सम्बद्ध हो और शास्त्रकी सहायता करता हो उसे प्रकरण कहते हैं।' वेदान्त शास्त्रके चार अनुबन्ध हैं १—अधिकारी २—विषय ३—सम्बन्ध और ४—प्रयोजन। यह किसके लिए है, क्या है, क्यों है, और क्या, क्यों में क्या मेल है इन चार प्रश्नों को अनुबन्ध कहते हैं। ३।

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिल-वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।

अधिकारिणं लक्षयति-अधिकारी तु इत्यतः प्रमाता इत्यन्तेन ग्रन्थेन। तत्र कीदृशः अधिकारी इत्यत आह(क)स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इति विधिना अधीतवेदवेदाङ्गत्वेन आपाततोऽधिगताखिलवेदार्थः = ब्राह्मणादिर्द्विजः,

तस्यैव वेदाध्ययनाधिकारश्रुतेः। (ख) इह जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्य-निषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यस्य सन्ध्यादेः, नैमित्तकस्य ग्रहणस्नानादेः, प्रायश्चितस्य उपासनायाश्चानुष्ठानेन निर्गतसकलकल्मष (दोष) तया नितान्तनिर्मलस्वान्तः वक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता अन्तःकरणप्रतिविम्बितचैतन्यम् जीव इत्यर्थः।

१—अधिकारी—(क) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिसे प्राप्त अध्ययनाधिकार वाले ब्राह्मणादि द्विज जिसने सविधि वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष) का अध्ययन किया हो तथा आपाततः समस्त वेदार्थोंका अध्ययन किया हो, (ख) इसजन्म या जन्मान्तर में काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्याग के साथ नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त और उपासना कर्मों के अनुष्ठान के कारण समस्त पापों के निकल जानेसे अत्यन्त निर्मल अन्तःकरण वाला साधनचतुष्टयसे युक्त जीव अधिकारी है।

काम्यानिस्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि—नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्टयादीनि। प्रायश्चित्तानि—पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि—सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि। एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परमम्प्रयोजनम्। उपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः, 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादि स्मृतेश्च। नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक' इत्यादिश्रुतेः। साधनानि—नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषटकसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि।

काम्यानि—फलोद्द`श्येन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। तेषां फलयोगार्थं जन्ममरणसाधनत्वेन वर्जनीयत्वम्।

निषिद्धानि—ऐहिकसुखरागात् कृतानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननसुरापानलसुनपलाण्डुभक्षणादीनि।

नित्यानि—अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। न चाकरणस्याभावरूपत्वेन साधनत्वं न स्यादिति वाच्यम्, नित्याकरणस्य प्रत्यवायनियतपूर्ववृत्तित्वेन नरकसाधनत्वोपपत्तेः।

नैमित्तिकानि—पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि पुत्रजन्मानन्तरं विधेयानि जातेष्टयादीनि, उपरागे स्नायादिति विधिविहितानि ग्रहणस्नानादीनि च।

प्रायश्चितानि—विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवनरूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि। प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्यैव शोधनम् इत्युक्तदिशा पापक्षयमात्रसाधनानि चान्द्रायणादीनि।

उपासनानि–शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकालादरनैरन्तर्योपेतमनोवृत्तिस्थिरीकरणलक्षणानि उपासनानि। सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापाररूपाणि नतु ज्ञानरूपाणि, इच्छातोऽनुष्ठेयत्वात् मानसी क्रियैषा नतु ज्ञानम्। शाण्डिल्येन ऋषिणा उक्ता शाण्डिल्यविद्या आदिपदात् दहरादिविद्यादीनां ग्रहणम्।

एतेषां नित्यनैमित्तिकप्रायश्चितानामुपात्तदुरितक्षयद्वारा बुद्धिशुद्धिः परम्परया मोक्षसाधनत्वात् परं (मुख्यं) प्रयोजनम्। तदुक्तं—नैष्कर्म्यसिद्धौ नित्यकर्मानुष्ठानात् धर्मोत्पत्तिः, ततः पापहानिः, ततः चित्तशुद्धिः, ततः संसारात्मयाथात्म्यबोधः, ततो वैराग्यं, ततो मुमुक्षुत्वं, ततस्तदुपायान्वेषणं, ततः सर्वकर्मसंन्यासः, ततो योगाभ्यासः, ततः चित्तस्य प्रत्यक् प्रवणता, ततः तत्त्वमस्यादिवाक्यपरिज्ञानं, ततोऽविद्योच्छेदः, ततः स्वात्मन्यवस्थानम् इति। उपासनानान्तु नित्याद्यनुष्ठानेन क्षयितकल्मषतया विशुद्धस्य चित्तस्य शास्त्रप्रकाशिते ध्येये ज्ञेये वा विषये ऐकाग्र्यम् निश्चलत्वम्, तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, इति श्रुतेः। वेदनोद्देश्येन यज्ञादीनि विधीयन्ते। वेदस्य इच्छासम्बधि-

र न प्रतीयमानत्वात् । यथा-अश्वेन जिगमिषतीत्यन्ताश्वस्येच्छाविषयीभूतगमनार्थत्वं न तु जिगमिषार्थत्वम् । तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते इतिस्मृतेश्च । नित्यनैमित्तिकयोः पितृलोकप्राप्तिरुपासनानाञ्च अवान्तरफलं सत्यलोकप्राप्तिः । कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः इत्यादिश्रुतेः ।

साधनानि १–नित्यानित्यवस्तुविवकः २–इहामुत्रफलभोगविरागः, ३–शमदमोपरमतितिक्षासामाधानश्रद्धासम्पत्तिः । ४–मुमुक्षुत्वञ्चेति । एभिः चतुर्भिः साधनैः सम्पन्नः प्रमाता जीवः अधिकारी ।

काम्य-जो कर्म किसी फलके उद्देश्य से किये जाते हैं जिनके फल भोग के लिए जन्म लेना अनिवाय है वे काम्य कर्म कहे जाते हैं। जैसे-स्वर्ग रूपी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ । निषिद्ध–जो कर्म इस लोकमें सुख मानकर राग वश किये जाते हैं किन्तु शास्त्रने जिन्हें नरक आदि अनिष्टोंका कारण कहा है वे कर्म निषिद्ध कर्म हैं। जैसे-ब्रह्महत्या, सुरा (मदिरा) पान, लसुन, पियाज आदिका भक्षण । [मुक्ति चाहने वाले के लिए जैसे निषिद्ध कर्म बाधक हैं वैसे काम्य कर्म भी । अतः दोनों प्रकारके कर्मों का वर्जन करना चाहिए]। नित्य-वे कर्म नित्य कहे जाते हैं जिनके न करने से पाप उत्पन्न होता हो । [यद्यपि नित्यका न करना यह क्रिया का अभाव रूप हैं और अभाव किसी का कारण नहीं होता तथापि नित्यके न करने से प्रत्यवायकी उत्पत्ति होती है अतः कार्यनियत पूर्ववर्ती होने के कारण नित्याकरण को प्रत्यवाय के प्रति कारण कहा जाता है] । नैमित्तिक-जो कर्म किसी निमित्त के आपड़ने पर किये जांय वे नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। जैसे पुत्रजन्म होने के बाद जातेष्टि करना, ग्रहण लगने पर स्नान करना, आदि । प्रायश्चित्त–विहित कर्म के न करने और निषिद्ध कर्म के करने से जो प्रत्यवाय उत्पन्न होते हैं उनकी निवृत्ति के लिये किये गये उपाय को प्रायश्चित्त कहते हैं। [पापका नाम प्रायः है और उसके शोधन को चित्त कहते हैं दानों पदों को योग से प्रायश्चित्त शब्द बनता

है।] उपासना—शास्त्रसे बताये गये ब्रह्म में आदर उत्पन्न होना और उसमें मनोवृत्ति का स्थिर करना उपासना है। यह उपासना सगुण ब्रह्मविषयकमानस व्यापार रूप है। जैसे–शाण्डिल्य विद्या आदि।

इन नित्य नैमित्तिक और प्रायश्चित्तों का पापक्षय द्वारा बुद्धि (अन्तःकरण) शुद्ध करना प्रधान प्रयोजन है। उपासना का फल है चित्तकी एकाग्रता। श्रुति भी कहती है कि ब्राह्मण लोग वेदानुवचन के द्वारा तथा यज्ञ के द्वारा इस प्रसिद्ध आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं। स्मृति भी कहती हैं कि तपसे पापक्षय किया जाता है।

इस प्रकार नित्य नैमित्तिक-प्रायश्चित्त और उपासना का अवान्तर फल है पितृलोक, और सत्यलोक की प्राप्ति। श्रुतिभी कहती है कि कर्मसे पितृ लोक और विद्यासे देव-लोक की प्राप्ति होती है।

साधनचतुष्टय—निम्नलिखित को साधनचतुष्टय कहते हैं—

१—नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक।

२—ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फलोंके भोगसे विराग।

३—शम, दम, उपरति, तिति ा, समाधान, श्रद्धा सम्पत्ति तथा

४—मोक्षकी इच्छा।

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद्-'ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदनित्यमि'ति विवेचनम्। ऐहिकानां स्रकचन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः। शमादयस्तु—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिः अथवा विहितानां कर्मणां विधिना

परित्यागः। तितिक्षा—शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। एवंभूतः प्रमाता अधिकारी 'शान्तो दान्तः' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे' इति॥

१—तत्र विवेकः—नित्यत्वं नाम कालानवच्छिन्नत्वम्, तद्विपरीतत्वमनित्यत्वम्। नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावत्—ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्।

तत्र ब्रह्मणो नित्यत्वे प्रमाणभूताः श्रुतयः—

क—नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्।

ख—अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः।

ग—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

तदितरानित्यत्वे प्रमाणभूताः श्रुतयः—

क—यो वै भूमा तदमृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम्।

ख—आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्।

ग—नेह नानास्ति किञ्चन।

२—विरतिः—ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितागृहक्षेत्रपशुभृत्यादिजन्यसुखरूपाणां विषयभोगानां कृषिसेवाप्रतिग्रहादिकर्मजन्यतया अनित्यत्ववत्, आमुष्मिकानामपि अमृतपानाप्सरःसेवननन्दनवनविहरणादि विषयभोगानामपि यागादिकर्मजन्यत्वेन नित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः इहामुत्रफलभोगविरागः।

३—शमादयः—शम-दमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः षट्।
(क) शमः—मनसोऽन्तः करणस्य श्रवणमनननिदिध्यासनातिरिक्तेभ्यो-विषयेभ्यः निग्रहः बलादाकर्षणं शमः। यथा तीव्रायां बुभुक्षायां भोजनादन्योव्यापारो मनसे न रोचते तथा विषयेषु अरुचिः श्रवणादिषु रुचिः

जायते। तदा पूर्ववासना बलात् विषयेषु गम्यमानं मनः यया विशिष्टया अन्तःकरणवृत्या निगृह्यते स वृत्तिविशेषः शम इति भावः।

(ख) दम :—तत्त्वज्ञानसाधनीभूतश्रवणाद्यतिरिक्तेषु शब्दादिविषयेषु प्रवर्तमानानि श्रोत्रादीनि बाह्येन्द्रियाणि येन अन्तः करणस्य वृत्तिविशेषेण निवर्त्यन्ते स वृत्तिविशेषः दमः।

(ग) उपरतिः—निवर्तितामेतेषां बाह्येन्द्रियाणां श्रवणादिसाधनव्यतिरिक्तेभ्यः शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाख्यविषयेभ्यः उपरमणं =पुनर्विषयप्रवृत्यनुत्साहकरणमुपरतिः। नच इन्द्रियनिग्रहे तेषां विषयेभ्यो निवर्तनमर्थसिद्धमिति साधनमध्ये उपरतेर्ग्रहणमयुक्तमिति अत आह अथवेति विहितानामवश्यकर्तव्यत्वेन चोदितानां सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादिकर्मणां विधिना चतुर्थाश्रमस्वीकारः कर्मणां परित्यागः संन्यास उपरतिः। नतु आलस्यादिना।

(घ) तितिक्षा—शरीरधर्मस्य सुखदुःखादेः तत्कारणीभूतस्य शीतोष्णादेश्च शरीरेण त्यक्तुमशक्यत्वात् स्वप्रकाशचिद्रूपे ब्रह्मणि तेषामत्यन्ताभावं विवेकदीपेनावलोक्य मिथ्याभूतस्य शीतोष्णमानापमानलाभालाभशोकहर्षादिद्वन्द्वस्य यत् सहनं सा तितिक्षा।

(ङ) समाधानम्—विषयेभ्यः निगृहीतस्यान्तःकरणस्य श्रवणमननादौ तदनुगुणविषये-गुरुशुश्रूषापुस्तकसम्पादनतद्रक्षणादिविषये अथवा अमानित्वादि साधनविषये समाधिः नैरन्तर्येण तच्चिन्तनम् समाधानम्। न चैवं सुखवासद्रव्यसङ्ग्रहमठारम्भादावपि चित्तसमाधिः कर्तव्य इति वाच्यम्, दण्डकौपीनाद्यतिरिक्तस्य विना प्रतिप्रसवं संग्रहानुपपत्तेः।

(च) श्रद्धा—गुरुवेदान्तेतिहासपुराणादिवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।

(छ) मुमुक्षुत्वम्—मोक्षेच्छा। मोक्षश्च अविद्यानिवृत्तिः, ब्रह्मात्मनावस्थानं वा। एवम्भूतः प्रमाता अधिकारी। शान्तो दान्तः इतिश्रुतेः। उक्तंच—प्रशान्तचित्ताय=शान्ताय, जितेन्द्रियाय = दान्ताय, प्रहीणदोषाय = नितान्तनिर्मलान्तःकरणाय, यथोक्तकारिणे=काम्यनिषिद्ध-

वर्जनपुरस्सरं नित्यानुष्ठानेन लब्धेश्वरप्रीतये। गुणान्विताय विवेक-वैराग्योपरति-तितिक्षा-समाधानयुक्ताय, सर्वदा = गुरुमनुगताय श्रद्धालवे मुमुक्षवे एतत् आत्मज्ञानं, सकलं = समग्रं प्रदेयमित्यर्थः। एवं च गृहस्थस्य न श्रवणादावधिकारः गृहकार्यव्यग्रत्वेन श्रवणकर्तव्यतानुपपत्तेः।

नित्यानित्यवस्तुविवेक—'ब्रह्म ही नित्य वस्तु है उसके अतिरिक्त सब अनित्य' इस प्रकार के विवेचन को नित्यानित्यवस्तुविवेक कहते हैं।

ब्रह्मको नित्य बताने वाली कतिपय श्रुतियां—

क) नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् (मुण्डक १।१।६।)

(ख) अजो नित्यः शाश्वतः (कठ २।१८)

(ग) एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति (ऋक् १।१६४।४.)

ब्रह्मातिरिक्त को अनित्य वताने वाली कतिपय श्रुतियां—

(क यो वै भूमा तदमृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम् (छा. ७।२४।१)

(ख) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्। (ऐ० १।१।११)

(ग) नेह नानास्ति किञ्चन

ऐहलौकिकपरलौकिकफलभोग के प्रति विराग—ऐहलौकिक फल पुष्प, चन्दन, मनोहर नारी आदि विषयों का भोग जैसे कृषि-सेवा-दान लेने आदि कर्म करने से प्राप्त होता है तथा अनित्य है वैसे पारलौकिक अमृतमान-अप्सराओं का संग, नन्दन वन विहार, विषय भोग आदि याग आदि कर्मो से जन्य होने के कारण अनित्य है। यह समझकर उनसे अत्यन्त विरत होने को ऐहिक पारलौकिक फल भोग विराग कहते हैं।

शमादि—शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान और श्रद्धा

शम—श्रवणमननिदिध्यासन से बिरत होकर रूपरसगन्धस्पर्शशब्द आदि विषयों की ओर दौड़ने वाले अन्तः करण की विषयों में अरुचि

उत्पन्न करके श्रवणादि की ओर आकर्षण करने वाली मन की एक वृत्ति को शम कहते हैं।

दम—श्रवणादि से विरत होकर शब्दादि विषयों की ओर दौड़ने वाली बाह्य करण—(इन्द्रियों) को जिस मन की वृत्ति से लौटाया जाता है वह वृत्ति दम है।

उपरति—श्रवण आदि से अन्य विषयों की ओर बाह्येन्द्रियों का अनुत्साह उत्पन्न करने वाली अन्तः करण की वृत्ति को उपरति कहते हैं। यहाँ दम और उपरति दोनों का एक ही कार्य होने से अभेद होग ऐसा भ्रम हो सकता है इस लिए उपरति का दूसरा लक्षण क . गया है।

अथवा—सन्ध्यावन्दन, अग्नि होत्रआदि विहित कर्मों का संन्यास ग्रहण रूप विधि से परित्याग करने को उपरति कहते हैं।

तितिक्षा—सुख और दुःख शरीर के धर्म हैं, उनके कारण शीत और उष्ण शरीर से छोड़े नहीं जा सकते। ये सब स्वयं-प्रकाश चिद्रूप ब्रह्म में नहीं हैं अतएव मिथ्या हैं। इस ज्ञान के आधार पर इनके सहन को तितिक्षा कहते हैं।

समाधान—विषयों से लौटे मन का श्रवणमननादि में, उनके सहायक गुरु शुश्रूषा पुस्तक सम्पादनादि में जो चिन्तन उसे समाधान कहते हैं।

श्रद्धा—गुरु तथा वेदान्तादि ग्रन्थों में विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

मुमुक्षुत्व—मोक्षकी इच्छा को मुमुक्षुत्व कहते हैं। अज्ञान की निवृत्ति या ब्रह्मस्वरूप में स्थित होने को मोक्ष कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त प्रमाता (जीव) वेदान्त विद्या का अधिकारी है। श्रुति भी कहते है—शान्त-दान्त-उपरत-तितिक्षु समाहित होकर

अपने में आत्मसाक्षात्कार करते हैं (बृ० ४ अ० ४ ब्रा० २२ मंत्र)। उपदेश साहस्री में कहा गया है कि 'जिसका चित्त शान्त हो, जिसने इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर लिया हो, जिसके अन्तःकरण निर्मल हो गए हों, जो काम्यनिषिद्ध कर्मों का त्याग करके तथा शास्त्रोक्त नित्यादिकर्मों का अनुष्ठान किया हो, जो विवेक-वैराग्य-उपरति-तितिक्षा-समाधान से युक्त हो, सर्वदा श्रद्धा के साथ गुरु का अनुगामी हो और मुमुक्षु हो ऐसे शिष्य को वेदान्त विद्या देनी चाहिए।

विषयो-जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयम्। तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।

विषयं लक्षयति-विषयः इति। अविद्याध्यारोपितसर्वज्ञत्वकिञ्चित्ज्ञत्वादिविरुद्धधर्मपरित्यागेनावशिष्टं यज्जीवब्रह्मैक्यं स विषयः। नच नीरक्षीरवत् परस्परविभिन्नयोरपि समानाभिहारवशात् ऐक्यव्यवहारवत् जीवब्रह्मणोरपि स्यात् इति आह शुद्धचैतन्यम् इति। चैतन्यस्य शुद्धत्वम् सर्वधर्मातीतत्वम्, एकरसत्वमिति यावत्। नच शुद्धचैतन्यस्य स्वयंप्रकाशमानत्वेन विचारविषयत्वं कथमित्याशंकायामाह—प्रमेयमिति। स्वरूपेणावभासमानत्वेऽपि सच्चिदानन्दरूपतया ज्ञायमानत्वात् विषयत्वोपपत्तेः। तत्रैव=जीवब्रह्मैक्ये वेदान्तानां वेदान्तवाक्यानां उपक्रमोपसंहारादिनां निरूप्यमाणे तात्पर्यात्। न तु सांख्यादिप्रसिद्धप्रधानादिषु इति भावः।

२—विषय—[अज्ञान से आरोपित सर्वज्ञत्व-किञ्चिज्ज्ञत्व आदि-विरुद्ध धर्मों के परित्याग से अवशिष्ट] जो जीव और ब्रह्म की एकता वही विषय है। [यद्यपि नीर और क्षीर परस्पर भिन्न होते हुए भी एक में मिल जाने पर एक की भाँति प्रतीत होते हैं तथापि यह] शुद्ध चैतन्य है अर्थात् सर्वधर्मातीत एवं एकरस है। [यद्यपि जो स्वयं प्रकाश है वह विचार का विषय नहीं हो सकता यह शंका होती है तथापि] वह प्रमेय है अर्थात् स्वरूपतः भासमान होते हुए भी सत्

चित् आनन्द रूपतया ज्ञायमान होने के कारण प्रमा ज्ञान का विषय भी है। यही वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य उपक्रम से लेकर उपसंहार तक देखने से प्रतीत होता है। सांख्य प्रसिद्ध प्रधान आदि में नहीं।

सम्बन्धस्तु—तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः।

सम्बन्धं लक्षयति–सम्बन्धस्तु इति। तयोरैक्यं, तदैक्यं, तदैक्यं च तत् प्रमेयं च तदैक्यप्रमेयम् तस्य तदैक्यप्रमेयस्य जीवब्रह्मैक्यरूपप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकं च तदुपनिषत् प्रमाणं च तत्प्रतिपादकोपदिषत् प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः सम्बन्धः। बोध्यं प्रमेयम् बोधकं च प्रमाणमिति विवेकः।

३—सम्बन्ध—जीव ब्रह्म की एकता रूप प्रमेय और उसके प्रतिपादक उपनिषत् रूपी प्रमाण का बोध्य-बोधक-भाव सम्बन्ध है।

प्रयोजनं तु—तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च 'तरति शोकमात्मविद्' इत्यादिश्रुतेः, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च। ४।

प्रयोजनं लक्ष्यति प्रयोजनन्तु इति। ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणचिन्मात्रगताज्ञानतत्कार्यसकलप्रपंचनिवृत्तिः पुनरुत्पत्यभावरूपा स्वस्वरूपाखण्डानन्दप्राप्तिश्च प्रयोजनम्=फलमित्यर्थः।

अज्ञाननिवृत्तिरित्युक्तौ वैशेषिकाभिमतं समूलदुःखोच्छेदलक्षणप्रयोजनं अनुमतं स्यादिति विशेषणम्। अज्ञाननिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्चेत्युक्तौ भाट्टाभिमतं नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्निःशेषदुःखोच्छित्तिश्च प्रयोजनमनुमतं स्यादिति स्वस्वरूपेत्यपि विशेषणमुक्तम्।

ननु लोके क्रियासाध्यस्य स्वर्गादेः पुरुषार्थत्वेन फलत्वं दृष्टम्। अत्र तु नित्यप्राप्तस्यात्मस्वरूपस्य क्रियासाध्यत्वाभावेन पुरुषार्थत्वाभावात् फलत्वमनुपपन्नमिति चेन्न, अप्राप्तस्यैव पुरुषार्थत्वमिति नियमात्। प्रत्यक् चैतन्यसत्वेऽपि अज्ञानात् विस्मृतस्य स्वरूपस्य श्रवणादिना

अज्ञाननिवृत्तौ स्वस्वरूपानन्दाप्राप्तेः प्रयोजनत्वात्। अत्रार्थे श्रुति-प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुतेः। शोकं=शोको-पलक्षितं संसारमूलाज्ञानं तरति अतिक्रामतीत्यर्थः। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेश्च।

४—प्रयोजन—आत्म गत अज्ञान और अज्ञान जन्य सकल प्रपञ्चों की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप अखण्ड आनन्द की प्राप्ति ही वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन है। यही श्रुति भी कहती है—आत्मवित् शोक को पार कर लेता है, 'जो ब्रह्म ज्ञानी है वह ब्रह्मरूप ही है।'

[यद्यपि लोक में क्रिया से साध्य अप्राप्त स्वर्ग आदि को ही पुरुषार्थ माना गया है। नित्य प्राप्त आनन्द स्वरूप आत्मा तो क्रियासाध्य हैं नहीं फिर इन्हें पुरुषार्थ अथवा फल कहना उचित नहीं यह शंका उठती है तथापि विस्मृत स्वरूप वाले की अज्ञान निवृत्ति के पश्चात् प्राप्ति भी प्रयोजन माना जाता है। अप्राप्त ही पुरुषार्थ होता है यह नियम भी नहीं है।]

गुरूपसर्पणप्रकारः

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलतप्तो दीप्तशिरा जल-राशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति, 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादिश्रुतेः।

अयमधिकारी जननमरणादिरेव संसारः स एवानलः तेन संतप्तः, उपहारः पाणौ यस्य स उपहारपाणिः 'रिक्तपाणिर्न न पश्येत राजानं देवतां गुरुम्' इति वचनात् श्रोत्रियं वेदान्तार्थपारगं ब्रह्मणि निष्ठा यस्य तम् ब्रह्मनिष्ठम् = औपनिषदब्रह्मात्मविज्ञानपरिपूर्णम् दीप्तशिराः= प्रज्वलितमस्तकः जलराशिमिव गुरुम् उपसृत्य=समीपं गत्वा तम्=गुरु-मनुसरति=मनोवाक्कायकर्मभिः सेवते। तथाच श्रुतिः "समित् पाणिः= उपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमभिगच्छेत्' इति।

यह अधिकारी जैसे अग्नि से तप्त होने पर मस्तक जल उठता है और प्राणी जल राशि के निकट दौड़ता है वैसे जन्म-मरण रूपी

संसाराग्नि से प्रज्वलित मस्तक वाला प्राणी हाथ में उपहार लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर उनका अनुसरण करता है। जैसा श्रुति कहती है 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

उपदेशप्रकारः

स परमकृपया 'अध्यारोपापवाद' न्यायेनैनमुपदिशति 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादि श्रुतेः ॥ ५ ॥

स गुरुः परमकृपया शरणागतजनक्लेशदर्शनजातकरुणया अध्यारोपापवादन्यायेन एवम् विधं शिष्यं उपदिशति ब्रह्मरूपं रहस्यमित्यर्थः। तथाच-श्रुतिः-तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह इत्यादि।

गुरु भी शरणागतजन को देखकर करुणार्द्र होकर अध्यारोपापवादन्याय से इस शिष्य को ब्रह्म का उपदेश करते हैं। श्रुति भी कहती है 'तस्मै स विद्वान्......प्रोवाच तं तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।

अध्यारोपः

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु।

तत्र अध्यारोपं दर्शयति असर्पभूते इति। वस्तुनि अवस्तुत्वारोपः अध्यारोपः। अन्धकारादिदोषवशात् असर्पभूते रज्जौ सर्पारोपवत्= अनिर्वचनीयसर्पारोपवत्। वस्तु ब्रह्म। तच्च सत्-चित्-आनन्दानन्ताद्वयम्। तत्र सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इति श्रुतेः, वक्ष्यमाणयुक्तितश्च बाधानुपलम्भात् ब्रह्मणः सत्यत्वम्। विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतेः ब्रह्मणः चित्स्वरूपत्वम् (ज्ञानरूपत्वम्)। उक्तश्रुतेः ब्रह्मणः परमप्रेमास्पदत्वात् हैरण्यगर्भभोगविरक्तानामपि अभिलषितत्वात् आनन्दरूपत्वम्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इति श्रुतेः। भेदे प्रमाणाभावाच्च ब्रह्मणः अद्वयत्वम् सिद्धम्।

अध्यारोप

किसी वस्तु में अवस्तु के आरोप (भ्रम) को अध्यारोप कहते हैं। जैसे—रज्जु रूप वस्तु जो सर्प से भिन्न है उसमें सर्प का आरोप (भ्रम) अध्यारोप है। वैसे सत् चित् आनन्द-अद्वय ब्रह्म वस्तु है और अज्ञान आदि सकल जड़ समूह अवस्तु है। [जैसे ध्यान से देखने पर जब रज्जु ज्ञान हो जाता है तब सर्पज्ञान नष्ट हो जाता है वैसे वस्तु ब्रह्म के साक्षात्कार हो जाने पर उसमें आरोपित (भासित) जगत् रूपी अवस्तु का भ्रम जाता रहता है।]

अविद्या

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञान-विरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च ॥

अवस्तु अज्ञानादिसकलजडसमूहः अनिर्वचनीयम्। अज्ञानं तु न सत् सर्वदाभानाभावात्, नाप्यसत् जडपदार्थभासकारणत्वानुपपत्तेः। अतः अनिर्वचनीयम्। नचैवमज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वे तस्याभाव प्रसङ्ग इति वाच्यम् अजामेकामित्वादिश्रुतिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकत्वेन त्रिगुणात्मकत्वप्रतिपादनात्। न चाकाशवदज्ञानस्य विभुत्वेऽनिवृत्ति-प्रसङ्ग इति वाच्यम् आत्मसाक्षात्कारेण तन्निवृत्तेः। प्रकाशविरोधि अन्धकारवत् ज्ञानविरोधित्वात्। न चैवं अज्ञानस्य अभावरूपत्वं स्यात् इति वाच्यम् अहमज्ञ इति अनुगतप्रतीतेः अनुगतविषयस्य वक्तव्यतया भावरूपमेवाज्ञानं स्वीक्रियते, घटः सन्, पटः सन् इत्यनुगतप्रतीत्यन्य-थानुपपत्त्या सत्तावत्। यदि इयमविद्या त्रिगुणात्मिका ज्ञानविरोधिनी, भावरूपा इति मन्यसे तर्हि इदमित्थमेवेति रूपं किमित्याह यत् किंचि-दिति। अत्र अहमज्ञ इति अनुभवः, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति श्रुतिश्च प्रमाणम्।

[अज्ञान (अविद्या) में वस्तु और अवस्तु दोनों अपेक्षित है। रस्सी में सांप का अध्यारोप वस्तु में अवस्तु का अध्यारोप(भ्रम)है। यहां रस्सी वस्तु और सांप अवस्तु है। यह अज्ञान (भ्रम) सत् नहीं है क्योंकि सत् वस्तु का सर्वदा भान होना चाहिए। इसका सर्वदा भान नहीं होता। यह असत् भी नहीं है क्योंकि जड़ पदार्थों के आभास का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि जो असत् है वह कारण नहीं बन सकता।] अतः सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अज्ञान (अविद्या) है। अब यह सन्देह होता है कि जिसका निर्वचन नहीं हो सकता वह वस्तु है ही नहीं किन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अजामेकां—श्रुति कहती है कि यह अविद्या अजा और सत्व-रज-तमो गुणवती त्रिगुणात्मिका है। यदि अविद्या अजा हो तो आकाश की भांति विभु भी होगी। फिर तो उसकी निवृत्ति ही नहीं हो सकती किन्तु यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि यह प्रकाश के विरोधी अन्धकार की भांति ज्ञान की विरोधिनी है। अतः आत्मसाक्षात्कार रूपी ज्ञान के हो जाने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है। ठीक है, अज्ञान तो ज्ञानाभाव है फिर अविद्या को अभावरूप मानना चाहिए किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे घटः सन्, पटः सन् इस प्रकार की प्रतीति के होने से सत्ता नाम की जाति मानी जाती है वैसे 'अहमज्ञः' इस प्रतीति का अनुगत विषय ढूढ़ने में अविद्या का भाव रूप ही मानना उचित होगा। यदि वह त्रिगुणात्मक, ज्ञान विरोधी, भाव रूप है तो उसका स्वरूप क्या होगा यह शङ्का उठना स्वाभाविक है किन्तु इस अविद्या का स्वरूप 'इदमित्थं' रूप में बताना कठिन है केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'जो कुछ है' यत् किञ्चित है। इसमें 'अहमज्ञः' यह प्रतीति और 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' यह श्रुति भी प्रमाण है।

समष्टिव्यष्टिरूपाज्ञानभेदद्वयी

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि—यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो

यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगतज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः 'अजामेकाम्'—इत्यादिश्रुतेः ।

इदमज्ञानं समष्ट्यभिप्रायेण अजामेकामित्यादिश्रुतिभिः एकमिति-व्यवह्रियते । व्यष्ट्यभिप्रायेण इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इत्यादिभिः अनेकमिति व्यवह्रियते । समष्टिः सामान्यम्, व्यष्टिर्विशेषः । यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशः (कथनम्) । यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति व्यपदेशः । तथा अन्तःकरणोपाधिभेदेन नानात्वेन प्रतीयमानानां जीवगताज्ञानानां समुदायविवक्षया 'अज्ञानम्' इति एकत्वव्यपदेशः अजामेकामिति श्रुतेः ।

अज्ञान ही समष्टि अभिप्राय से 'अजामेकाम्' इस श्रुति के अनुसार 'एक' कहा जाता है । और व्यष्टि अभिप्राय से 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते' आत्मा अपनी अज्ञान रूपी शक्ति से अनेक रूप में जाना जाता है, इस श्रुति के अनुसार 'अनेक' कहा जाता है । समष्टि समुदाय सामान्य को कहते हैं, व्यष्टि व्यक्ति-विशेष को कहते हैं । इस प्रकार अज्ञान, अविद्या अथवा माया के दो रूप हैं । एक समष्टि और दूसरा व्यष्टि । जैसे वृक्षों की समष्टि को वन कहा जाता है । अथवा जलों की समष्टि को जलाशय कहा जाता है । वैसे अन्तःकरण की उपाधि के भेद से 'अनेक' रूप में प्रतीयमान जीवगत अज्ञानों को 'अज्ञानम्' इस रूप में समुदायाभिप्राय से 'एक' कहा जाता है । इसी बात को 'अजामेकाम्' यह श्रुति भी अनादि और एक आदि रूप में कहती है ।

ईश्वरः (कारणशरीरम्)

इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना । एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात् । 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इतिश्रुतेः । ईश्वरस्येयं समष्टिरखि-

लकारणत्वात् कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वा-च्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलय-स्थानमिति चोच्यते। यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यने-कत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तथाऽज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इत्यादिश्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टि-समष्टिताव्यपदेशः।

इयमज्ञानस्य समष्टिः मोहादिनाऽप्रतिहतज्ञानात्मकत्वेनोत्कृष्टोपाधि-तया रजस्तमोभ्यामनभिभूतमत एव विशुद्धं सत्त्व प्रधानं यस्या सा विशुद्ध-सत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं (अज्ञानसमष्ट्युपहितं) (विशिष्टं) चैतन्यं परमार्थतोऽसङ्गस्यापि चैतन्यस्य आध्यासिकाज्ञानद्वारा सर्वस्य चरा-चरात्मकप्रपञ्चस्यावभासकत्वे सवज्ञातृत्वेन सर्वज्ञः इति, सर्वेषां जीवानां ईशितत्त्वेन (कर्मानुगुणफलदातृत्वेन) सर्वेश्वर इति, सर्वेषां जीवानां प्रेरकत्वेन (नियन्तृत्वेन) सर्वनियन्ता इति, सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्व-नियन्तृत्वगुणकम्, प्रमाणागोचरत्वेन अव्यक्तमिति, सर्वेषां जीवानाम् अन्तः स्थित्वा बुद्धिनियामकत्वेन अन्तर्यामी इति, सर्वस्य चराचरात्मक-प्रपञ्चस्य विवर्ताधिष्ठानत्वेन जगत्कारणमिति, सकलाज्ञानावभास-कत्वेन (ज्ञातृतया) ईश्वर इति च व्यपदिश्यते। यः सर्वज्ञः स सर्ववित् इति श्रुतेः। ईश्वरस्य इयं समष्टिः (समुदायोपाधिः) अखिलस्य कारण-त्वात् कारणशरीरम् इति, आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्च आनन्दमयकोशः इति, सर्वस्य स्थूलसूक्ष्मोपाधेः कारणोपाधौ लीनत्वात् सर्वोपरमत्वं तस्मात् सुषुप्तिः, अत एव स्थलस्य पञ्चीकृतभूतकार्यस्य जाग्रदवस्थाविशिष्टस्य सूक्ष्मस्य अपञ्चीकृतभूतकार्यस्य स्वाप्नप्रपञ्चस्य च लयस्थानमित्युच्यते।

यथा वनस्य बहुवृक्षसमुदायरूपस्य वनम् इति एकत्वव्यवहारः, व्यष्ट्य-प्रायेण च वृक्षाः इति अनेकत्वव्यपदेशः, यथा वा वापीकूपतडागादिषु

समुदायविवक्षया जलाशय इति एकत्वव्यवहारः, व्यष्ट्यभिप्रायेण च जलानि इति अनेकत्वव्यपदेशः भवति तथैव अज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण प्रत्येकाज्ञानाभिप्रायेण अज्ञानानि इति अनेकत्वव्यपदेशः। अत्र इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इत्यादि श्रुतिः प्रमाणम्। इन्द्रः=ईश्वरः मायाभिः =अज्ञानैः, पुरुरूपः बहुरूपः ईयते प्रकाशते इति तदर्थः।

न च एकस्यैवाज्ञानस्य व्यष्टिसमष्टितानोपपद्यत इति वाच्यम् भेदविवक्षया व्यस्तव्यापित्वेन मृद्घटादिवत् व्यष्टिव्यपदेशस्य, अभेदविवक्षया समस्तव्यापित्वेन मृत्पिण्डवत् समष्टिव्यदेशस्योपपन्नत्वात्।

अज्ञान की इस समष्टि में मोहादि द्वारा ज्ञान का प्रतिघात न होने से उत्कृष्ट उपाधि मानी गई है तथा रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत सत्वगुण की प्रधानता है। इस अज्ञान की समष्टि से युक्त चैतन्य जो परमार्थतः असङ्ग है, फिर भी आध्यासिक अज्ञान द्वारा समस्त स्थावर, जङ्गम जगत् का अवभासक होने के कारण सबका ज्ञाता है अतः सर्वज्ञ कहा जाता है, समस्त जीवों को कर्म के अनुरूप फल देता है अतः सबका ईश है और सर्वेश्वर कहा जाता है। समस्त जीवों का प्रेरक है अतः सर्वनियन्ता कहा जाता है। वह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता आदि गुणों से युक्त होते हुए भी प्रमाणों के द्वारा अदृष्ट होने के कारण अव्यक्त कहा जाता है। सर्व जीवों के अन्तःकरण में स्थित होकर बुद्धि का संचालन करता है अतः अन्तर्यामी कहा जाता है। समस्त जगत् के विवर्त का अधिष्ठान होने के कारण जगत्कारण कहा जाता है। समस्त अज्ञानों का ज्ञाता होने के कारण ईश्वर कहा जाता है। क्योंकि श्रुति भी कहती है कि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' जो सब कुछ जानता है वह सर्वज्ञ है।

ईश्वर नाम की यह अज्ञान की समष्टि समस्त जगत् का कारण होने से ही कारणशरीर कही जाती है। आनन्द की प्रचुरता होने, तथा आत्मा को कोश की भाँति ढक लेने के कारण आनन्दमयकोश कहा

जाता है। समस्त स्थूल और सूक्ष्म उपाधियों का कारणोपाधि में लीन होने को सर्वोपरम 'सुषुप्ति' कहते हैं। इसीलिये जाग्रदवस्था विशिष्ट पञ्चीकृतभूतों का कार्यस्वरूप स्थूलप्रपञ्च और स्वप्नावस्था-विशिष्ट अपञ्चीकृतभूतों का कार्यस्वरूप जो सूक्ष्म (स्वप्न) प्रपञ्च इन दोनों का इसी ईश्वर की कारणोपाधि में विलय होता है अतः इसे 'लय-स्थान' भी कहते हैं।

जैसे वन के एक-एक वृक्षों के अभिप्राय से व्यवहार करने की इच्छा होती हैं तब 'वृक्षाः' इस प्रकार अनेक वृक्षों का व्यवहार होता है। अथवा जैसे जल सामान्य के तात्पर्य से जल कहा जाता है किन्तु अलग-अलग बताने के अभिप्राय से कूपजल, गङ्गाजल, समुद्रजल, सरोवर जल, यमुना जल आदि व्यवहार होता है। वैसे ही अज्ञानकी व्यष्टि के तात्पर्य से 'अज्ञानानि' इस रूप में अनेक व्यवहार होता है। श्रुति भी कहती है कि इन्द्र = आत्मा अज्ञानों द्वारा अनेक रूप में भासित होता है।

इस प्रकार एक ही अज्ञान को जब भेदविवक्षा में अलग देखते हैं तब मिट्टी, घट, पुरवा, पत्तल आदि रूप में व्यवहार होता है। किन्तु जब अभेद रूप में देखते हैं तब मिट्टी की बनी समस्त वस्तुओं को समष्टि रूप में मिट्टी कह देते हैं।

प्राज्ञः [जीवः]

इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहित-चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानाव-भासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात् अस्यापीदमहंकारादिकारणत्वात्कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात्को शवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।७

इयं जीवगता व्यष्टिः सुषुप्त्यवस्थापन्नाहङ्कारविक्षेपसंस्काररूप-निकृष्टोपाधितया मलिनं=रजसमोभ्यामभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा मलिनसत्त्वप्रधाना च भवति। एतेन व्यष्ट्यज्ञानेनोपहितं चैतन्यम् अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्वादि अज्ञानस्यैकांशावभासकत्वेन प्रकृष्टः अज्ञः=इति व्युत्पत्या प्राज्ञ इति उच्यते। यथा समस्ताज्ञानावभासकत्वेन ईश्वर इत्युच्यते तथैव एकाज्ञानावभासकत्वेनास्य जीवस्य प्राज्ञ इति संज्ञा। मलिनसत्त्वप्रधानाज्ञानोपाधितया अनतिप्रकाशकत्वेन च अस्य प्रकृष्टाज्ञत्वात् प्राज्ञत्वम्। अस्य अज्ञानस्य प्राज्ञस्य (जीवस्य) अपि सुषुप्तिकाले अहङ्कारादिशरीरोत्पादकत्वेन कारणशरीरत्वम्, इन्द्रियाणां तद्विषयाणां च अभावेन इन्द्रियव्यासङ्गाभावात्, आनन्दबाहुल्यात्, कोषवदात्माच्छादकत्वाच्च आनन्दमयकोषत्वम्, सर्वस्य व्यावहारिकस्य पञ्चीकृतस्थूलशरीरस्य प्रातिभासिके अपञ्चीकृतसूक्ष्मशरीरे उपरतिः, तस्य प्रातिभासिकस्य स्वप्नप्रपञ्चस्य स्वकारणेऽज्ञाने उपरतिः इति सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिः भवति। अत एव=सर्वोपरमत्वादेव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। अयमेवार्थः—

लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा॥
व्यावहारिकदेहस्य लयः स्यात् प्रातिभासिके।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि। इति
वाक्यसुधायाः ४६।४७ श्लोकयोः उक्तः।

अयम्भावः। फेनो यदा जले लीनो भवति तदा फेनस्य धर्मा द्रवादिकाः तरङ्गे अवलोक्यन्ते, पुनः फेनो यदा जले विलीनो भवति तदा ते फेनधर्माः जले स्वाभाविकरूपेण पूर्ववत् तिष्ठन्ति। एवं व्यावहारिक देहस्य यदा प्रातिभासिके लयो भवति तदा सत्ताया प्रतीतिः दृश्यते किन्तु यदा प्रातिभासिकसत्ताया अपि विलयो भवति तदा शुद्धः साक्षिभूतः सच्चिदानन्द एवावशिष्यते इति।

व्यष्टि प्राज्ञ (जीव)

यह जीवगत व्यष्टि सुषुप्ति अवस्था प्राप्त अहङ्कार विक्षेप संस्कार रूप निकृष्टउपाधिमें रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत सत्त्व ही प्रधान होता है। इस निकृष्ट उपाधि रूप व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य अज्ञान के एक-एक अंशका अवभासक होने के कारण अल्पज्ञ, अनीश्वर और प्रकृष्ट अज्ञ होने के कारण प्राज्ञ कहा जाता है।

जैसे समस्त अज्ञानों के अवभासक को ईश्वर कहा जाता हैं वैसे एक-एक अज्ञानों का अवभासक तथा मलिन सत्त्वप्रधान होने से जीव की प्राज्ञ संज्ञा होती है।

[जैसे प्रलय कालमें ईश्वर रूप अज्ञान जगत् का कारण होने से कारणशरीर, आनन्द की प्रचुरता तथा कोश के सदृश आच्छादक होने से आनन्दमय कोष कहा जाता है] वैंसे इस प्राज्ञ संज्ञा वाले अज्ञान की भी सुषुप्तिकाल में, आहंकारिक शरीर का उत्पादक होने से कारण शरीर, इन्द्रियों तथा विषयों के अभाव होने से आनन्द प्रचुरता के कारण आनन्दमय, कोश के समान आच्छादक होने से कोश, समस्त व्यावहारिक पञ्चीकृतस्थूल शरीर का प्रातिभासिक अपञ्चीकृतसूक्ष्म शरीर में तथा प्रातिभासिक स्वाप्न प्रपञ्च का अपने कारण अज्ञान में उपरति होने से सर्वोपरम होता है उसे ही सुषुप्ति कहते हैं। इसीलिए 'स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च लयस्थान' कहा जाता है।

यही बात वाक्य सुधामें निम्नलिखित रूपसे कही गई है। "फेन जब पानीमें घुलता है तब फेन के कुछ अवशेष पानीमें दिखाई देते हैं। किन्तु जब फेन पूरी तरह पानी में विलीन हो जाता है तब पानी अपने स्वाभाविक रूप में हो जाता है। इसी प्रकार जब व्यवहारिक देह का प्रातिभासिक देह में लय होता है तब सत्ता की प्रतीति होती है किन्तु जब प्रातिभासिक सत्ता का भी लय हो जाता है तब शुद्ध साक्षिभूत सच्चिदानन्द ही अवशेष रहता है।

ईश्वरप्राज्ञयोः स्वात्मानन्दानुभवः

समष्टिव्यष्ट्योरीश्वरप्राज्ञयोरभेदत्वञ्च तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः । 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः, 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमि' त्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च ।

न च प्रलयकाले सुषुप्तिकाले च अन्तःकरणस्य तद्वृत्तेश्च अभावेन आनन्दग्राहकाभावात् तस्य प्राचुर्यसद्भावे प्रमाणाभावात् आनन्दमयत्वं न सम्भवतीति वाच्यम् तदानीम् प्रलयकाले सुषुप्तौ च एतौ ईश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिः अतिसूक्ष्माभिः अज्ञानस्य विलक्षणाभिः अन्तःकरणवृत्ति-सदृशीभिः कल्प्याभिः वृत्तिभिः आनन्दमनुभवतः । तत्र ईश्वरः स्वकीया-ज्ञानवृत्तिभिः स्वानन्दप्राचुर्यमनुभवति, जीवोऽपि संस्कारमात्रावशिष्टाभिः अज्ञानवृत्तिभिः स्वानन्दप्राचुर्यं तारतम्येन अनुभवतीति भावः । अत्र श्रुतिश्च 'आनन्दभुक्चेतो मुखः प्राज्ञः' इति । सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिद-वेदिषम्' इत्युत्थितस्य परामर्शश्च उपपद्यते ।

अब यह प्रश्न उठता है कि प्रलयकाल में ईश्वर और सुषुप्ति काल में जीव के अन्तःकरण और अन्तःकरण की वृत्तियों के अभाव होने से आनन्द का ही ग्रहण नहीं हो सकेगा फिर प्रचुर आनन्द का ग्रहण होना और दोनों का आनन्दमय होना सम्भव नहीं है फिर दोनों को आनन्दमय कहना कहाँ तक उचित है, ठीक है, प्रलयकाल हो या सुषुप्तिकाल दोनों कालों में ईश्वर और प्राज्ञ दोनों अन्तःकरणकी वृत्तियों के समान एक विलक्षण, चैतन्य से प्रदीप्त, अतिसूक्ष्म अज्ञान की वृत्ति के द्वारा आनन्दानुभव करते हैं। ईश्वर अपने समष्टि अज्ञान की वृत्तियों से प्रचुरतर आनन्द का अनुभव करता है और जीव अपने संस्कारमात्रा में अवशिष्ट व्यष्टि अज्ञान की वृत्तियों से प्रचुरतम आनन्द का अनुभव करता है । श्रुति भी कहती है कि 'चैतन्यसे दीप्त अज्ञान की वृत्तियों द्वारा प्राज्ञ भी आनन्द का भोग प्राप्त करता है ।' और मैं'

सुख से सोता रहा कुछ भी जान न सका' इस प्रकार का अनुभव भी बनता है। क्योंकि सुषुप्ति काल में 'कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ, इस प्रकार का ज्ञान भी वृत्तियों से ही मानना पड़ेगा।

ईश्वरप्राज्ञयोरभेदः

अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाश-जलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः। 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि-श्रुतेः।

ननु ईश्वरगताज्ञानस्य, जीवगतसंस्कारमात्रावशिष्टाज्ञानस्य च समष्टिव्यष्टिरूपतया भेदात् कथं ईश्वरप्राज्ञयोरभेद इति चेत् श्रूयताम्, अज्ञान-रूपयोः अनयोः समष्टिव्यष्टयोः वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाभेदः। एवं समष्ट्युपहितचैतन्यस्य ईश्वरस्य, व्यष्ट्युपहितचैतन्यस्य प्राज्ञस्य (जीवस्य) अपि वनावच्छिन्नाकाशवत् ईश्वरस्य, वृक्षावच्छिनाकाशवच्च जीवस्य। एवं स्थूलजलाशयप्रतिबिम्बाकाशवत् जलगतप्रतिबिम्बाकाशवच्च कारणोपाध्यवच्छिन्नस्य ईश्वरस्य, कार्योपाध्यवच्छिन्नस्य प्राज्ञस्य च वस्तुतोऽभेद एव। श्रुतिश्च-एष सर्वेश्वर''''''भूतानामिति।

इस प्रकार अज्ञान समष्टि ईश्वर और संस्कारमात्रावशिष्ट अज्ञान व्यष्टि जीवमें परस्पर भेद होने पर भी जैसे समष्टि वन और व्यष्टि वृक्ष अथवा समष्टि जलाशय और व्यष्टि विभिन्न प्रकारके जलों में भेद होने पर भी वन और वृक्ष, जलराशि और जल दोनों एक हैं वैसे एक ही अज्ञान समष्टिरूप में ईश्वर और व्यष्टिरूप में जीव होने से भेद भले ही प्रतीत हो किन्तु दोनों अज्ञान की दो उपाधि होने पर भी एक ही हैं। श्रुति भी 'यह सर्वेश्वर है' कहती है। ८।

तुरीयचैतन्यम्

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाश-योर्वाऽऽधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोरा -

धारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते। 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते॥

इत्थमविद्योपाध्यवच्छिन्नौ ईश्वरप्राज्ञौ निरूप्य अनवच्छिन्नं चैतन्यं निरूपयति-यथा वनवृक्षतवच्छिन्नाकाशयोः जलाशयजलतद्गतप्रतिविम्बाकाशयोर्वा आधारभूतः अनुपहितः महाकाशः तथैव कार्यकारणोपाधितदवच्छिन्नचैतन्ययोः ईश्वरप्राज्ञयोः आधारभूतं यदनवच्छिन्नं चैतन्यं विशुद्धचैतन्यं तत् तुरीयचैतन्यमिति चोच्यते। श्रुतिश्च 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं यथा-दाहकत्वमग्नेः धर्मः किन्तु तत्र पतिते अयः पिण्डे 'अयो दहतीति' व्यवह्रियते तथैव अभेदविवक्षायां महावाक्यस्य तत्त्वमसीत्यस्य वाच्यम्, भेदविवक्षायां च लक्ष्यमिति चोच्यते। अयमेव वस्तु शब्देन उक्तः।

इसप्रकार अज्ञान की समष्टिरूप उपाधिसे युक्त चैतन्य ईश्वर, और अज्ञान की व्यष्टिरूप उपाधिसे युक्त चैतन्य जीव के सिद्ध हो जाने के बाद यह मानना पड़ता है कि जैसे वन और वनावच्छिन्न आकाश, वृक्ष और वृक्षावच्छिन्न आकाश दोनों वनाकाश और वृक्षाकाश के दो रूप हैं किन्तु इन दोनों आकाशों का मूल वन या वृक्ष रूप उपाधियों से विनिर्मुक्त भी एक आकाश है, अथवा जैसे जलराशि प्रतिबिम्बित आकाश और जल प्रतिबिम्बित आकाश दोनों जलाशयाकाश और जलाकाश के रूप में दो हैं किन्तु इन दोनों का मूल भूत जलाशय अथवा जल रूप उपाधि से विनिर्मुक्त भी एक आकाश है वैसे अज्ञानसमष्ट्युपहितचैतन्य ईश्वर और अज्ञानव्यष्ट्युपहित चैतन्य प्राज्ञ (जीव) का मूलभूत (आधारभूत) किसी भी प्रकार की उपाधियों से रहित शुद्ध चैतन्य भी एक है जो 'तुरीय चैतन्य' कहा जाता है। श्रुति भी कहती है कि 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते'। यद्यपि ईश्वर, प्राज्ञ के अनन्तर शुद्धचैतन्य

को तृतीय कहना चाहिये तथापि आगे प्रतिपाद्य विश्व, तैजस आदि को ध्यान में रखकर तुरीय अर्थात् चतुर्थ कहा गया है। कुछ लोगों का मत है कि अविद्या, ईश्वर, प्राज्ञ के बाद चतुर्थ है।

यह ही 'तुरीय चैतन्य' अज्ञान और अज्ञानोपहितचैतन्य से तप्त लोहे के गोले के सदृश एक रूप में प्रतीत होने पर 'तत्त्वमसि' महावाक्य का वाच्य होता है और भेदविवक्षा में पृथक् रूप में प्रतीत होने पर तत्त्वमसि महावाक्य का लक्ष्य होता है। जैसे लोहे के गोले को अग्नि से पृथक् कर लेने पर भी गोले में दाहकत्व जो विशुद्ध अग्नि का धर्म है प्रतीत होता है और 'अयो दहति' लोग कहते भी है। यह अग्नि और गोले की अविविक्तविषतया अभेदविवक्षा भी है। यही तुरीय-चैतन्य वस्तु रूप में कहा गया है।

अज्ञानस्यशक्तिद्वयी

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरण-शक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोक-यितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्न-मप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतया-च्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। इति

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुः-खमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते, यथा स्वाज्ञानावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना।

विक्षेपशक्तिस्तु, तथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पा-दिकमुद्भावयति एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशा-दिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदि' ति॥

ननु स्वयंप्रकाशस्य, चिद्रूपस्य, असङ्गस्य, उदासीनस्य च आत्मनः कथं कुण्ठितप्रकाशत्वं कथं वा प्रपञ्चजनकत्वमिति चेत् शृणु, अज्ञानस्य अस्ति शक्तिद्वयम्। एका आवरणानुकूला, अपरा विक्षेपानुकूला।

आवरणशक्तिः।

तत्र आवरणानुकूलाशक्तिस्तावत् यथा स्वल्पोऽपि मेघखण्डः अनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोचकजननेत्रपथपिधायकतया आच्छादयतीव प्रतीयते न वस्तुतः आदित्यमाच्छादयति किन्तु अवलोचकलोचनपथमेवावृणोति तथैव अज्ञानं परिच्छिन्नमपि अवलोकयितृबुद्धिपिधायकतया अपरिच्छिन्नम्, असंसारिणम्, स्वप्रकाशमात्मानमाच्छादयतीवेति उपचारात् उच्यते। आवरणशक्तेः तादृशं सामर्थ्यम् इति। तदुक्तं-हस्तामलकाचार्येण घनच्छन्नः······अहमात्मा इति।

अयम्भावः—यथा अतिमूढः घनेन छन्ना दृष्टिर्यस्य घनच्छन्नदृष्टिः। मेघावृतनेत्रः-अर्कं सूर्यं घनेन छन्नं आवृतं निष्प्रभं कान्तिरहितं च मन्यते तथैव मूढदृष्टेः मूढा विवेक्तुमशक्ता बुद्धिर्यस्य तस्य ज्ञानलवदुर्विदग्धस्य यः बद्धवद् भाति प्रतीयते स नित्योपलब्धिस्वरूपः अहमात्मा इति। अनयैव आवरणशक्त्या युक्ते आत्मनि सांसारिकेषु विषयेषु च कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुख-दुःख-मोहात्मकेषु तुच्छा संसारभावनापि सम्भाव्यते। यथा स्वाज्ञानेनावृते रज्ज्वच्छिन्ने चैतन्ये सर्पत्वसम्भावना। एतेनेदमायातं यत् यथा रज्वां सर्पसम्भावना भ्रमरूपा तथैवात्मनि संसारसम्भावनाऽपि भ्रमरूपैव।

विक्षेपशक्तिः

जगतः समुत्पादिका शक्तिः विक्षेपशक्तिः। विक्षिपति सृजतीति विक्षेप इति व्युत्पत्तेः। यथा रज्जुविषयकमज्ञानं स्वशक्त्या अज्ञानावृते रज्जौ सर्पमुत्पादयति तथा आत्मविषयकमज्ञानमपि स्वावच्छिन्ने आत्मनि विक्षेपशक्तिप्रभावेण आकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति एतादृशं सामर्थ्यं अज्ञानस्य विक्षेपशक्तिः इत्यर्थः। तदुक्तम् वाक्यसुधायाम् विक्षेपशक्तिः·········सृजेत् इति। १०।

यदि चैतन्य स्वयं प्रकाश, चिद्रूप है, तब उसकी प्रकाशकत्वशक्ति-कुण्ठित क्यों होती है ? और यदि वह असङ्ग और उदासीन है तब जगत् प्रपञ्च की रचना क्यों करता है ? इन दोनों प्रश्नों के समाधान के लिए अज्ञान की शक्तियों का विवेचन करते हैं। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं। एक आवरण करने वाली आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप करने वाली विक्षेपशक्ति।

आवरण शक्ति जैसे मेघ का छोटा सा टुकड़ा दर्शकों की आँख ढक कर अनेक योजन लम्बे चौड़े सूर्य मण्डल को ढक सा लेता है वैसे ही परिच्छिन्न भी अज्ञान अवलोकन करने वाले प्रमाता की बुद्धि को ढक लेने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी स्वप्रकाश आत्मा को ढकसा लेता है। यह आवरणशक्ति का सामर्थ्य है। हस्तामलकाचार्य ने भी कहा है कि—जैसे मूढजन अपने नेत्र पथ पर मेघ आ जाने पर सूर्य को मेघा-च्छन्न और निष्प्रभ मानते हैं अपने नेत्र को नहीं। वैसे अविवेकी जन की दृष्टि में जो अबद्ध, नित्य, स्वप्रकाश, चैतन्य बद्ध की भाँति प्रतीत होता है वह नित्योपलब्धि स्वरूप आत्मा मैं हूँ।' इसी आवरण शक्ति से युक्त आत्मा का कर्ता, भोक्ता होना और सुख, दुःख मोह रूप तुच्छ संसार भावना भी सम्भावित है। जैसे अपने ही अज्ञान से ढकी हुई रस्सी में सर्प होने की सम्भावना बनती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे रज्जू में सर्प सम्भावना भ्रम है वैसे आत्मा में संसार भासना भी भ्रम ही है।

जगत् को उत्पन्न करने वाली शक्ति का नाम विक्षेपशक्ति है। जैसे रज्जु विषयक अज्ञान अपनी शक्ति से अज्ञान से आवृत रस्सी में सर्प भावना उत्पन्न करता है वैसे आत्म विषयक अज्ञान भी अज्ञानावृत आत्मा में अपनी विक्षेप शक्ति द्वारा आकाश आदि प्रपञ्च का उद्भावन करता है। वाक्य सुधा में भी कहा है कि—विक्षेप शक्ति ही लिङ्ग से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत की रचना करती है। १०

चैतन्यस्य संसारकारणत्वम्

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति ॥

ननु अयमात्मा किं जगतः निमित्तकारणमुत उपादानकारणम्। नाद्यः आत्मनः निमित्तकारणत्वे तत्सृष्ट्वा 'तदेवानुप्राविशत्' इति तैत्तिरीयोक्तं तस्य स्वकार्यव्यापित्वं न स्यात् घटनिमित्तकारणस्य दण्डादेः स्वकार्यघटादिव्यापित्वादर्शनात्। नान्त्यः—आत्मनः उपादानकारणत्वे कार्यकारणयोः अभेदेन जगतः चैतन्यरूपत्वं, नित्यत्वं च स्यात् इति चेन्न ? आवरणविक्षेपानुकूलशक्तिद्वयवत् अज्ञानोपहितं चैतन्यं (स्व) चैतन्यप्रधानतया जगतः निमित्तकारणम्, स्वोपाधिप्रधानतया (अज्ञानोपाधिप्रधानतया) उपादानकारणं च भवति। यथा लूता (ऊर्णनाभिः) स्वतन्तुरूपकार्यं प्रति चैतन्यप्रधानतया निमित्तकारणम्। स्वशरीरप्रधानतया च उपादानकारणम् भवति।

अयम्भावः—अचेतनः लूतातनुः तन्तुं जालं वा नोत्पादयितुं क्षमते, न वा केवलेन शरीररहितेन लूताचैतन्येनापि तन्तुं जालं वा उत्पादयितुं शक्यते। किन्तु सचेतना लूता तथा कर्तुं प्रभवति। अतः इदं कल्पनीयम् यत् लूता चैतन्यप्राधान्येन तन्तोः निमित्तकारणम्, स्वशरीरप्राधान्येन उपादानकारणम्। उभयथा चैतन्यस्य निमित्तकारत्वं साक्षात्, उपादानकारणत्वं परम्परया वक्तव्यम्। एवमेव ईश्वरः चैतन्यप्राधान्येन निमित्तकारणम्, अज्ञानप्राधान्येन उपादानकारणम्। अज्ञानं अविद्या माया इति नामान्तरम्। अतः ईश्वरः साक्षात् निमित्तकारणम् परम्परया जगतः उपादानकारणमिति विवेकः।

इदमत्रावधेयम्—नित्यस्य परमात्मनः जगतः उपादानकारणत्वे 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इति नियमेन सांसारिकजडप्रपञ्चस्यापि नित्यत्वं स्यात्। उपादानकारणत्वाभावे 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति श्रुतिविरोधः जगतः ब्रह्मणः परिणामापत्तिश्च

स्यात् । अतः कश्चन उपायः वाच्यः । सच उपायः 'जगत् ब्रह्मणो विवर्तः नतुं परिणाम इति सिद्धान्तस्वीकाररूपः । यथा स्वस्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरप्रदर्शकत्वं विवर्तत्वम् । यथा रज्ज्वच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाज्ञानस्य रज्जुस्वरूपापरित्यागेन सर्पादिस्वरूपान्तरप्रदर्शकत्वम् । तथा ईश्वरचैतन्यनिष्ठाज्ञानशक्तेरपि चैतन्यस्वरूपापरित्यागेन आकाशादिस्वरूपान्तराकारेण प्रदर्शकत्वम् । अतः प्रपञ्चस्य न नित्यत्वम् । अज्ञानस्य स्वतो मिथ्यात्वेन तज्जन्याकाशादेरपि मिथ्यात्वम् । न चैवमज्ञानस्य मिथ्यात्वे तज्जन्यबन्धमोक्षयोरपि मिथ्यात्वं स्यादिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः । अतएव 'बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः' इत्युक्तं भागवते ।११।११।१ श्लोके । एवं चैतन्यस्य जगत् कारणत्वं सिद्धम् ।

चैतन्य का जगत् कारण होना

अब प्रश्न उठता है कि यह चैतन्य जगत् का निमित्त कारण है अथवा उपादान कारण, यदि चैतन्य जगत् का निमित्त कारण माना जाय ती 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत' (जगत की रचना की और उसी में प्रविष्ट) हुआ' तैत्तिरीय श्रुति में प्रतिपादित अपने कार्य में अनुप्रविष्ट होना नहीं बनेगा । क्योंकि निमित्तकारण कार्य में अनुप्रविष्ठ नहीं होता । जैसे घट का निमित्तकारण दण्ड घट में व्याप्त नहीं है ? यदि चैतन्य को जगत् का उपादान कारण कहा जाय तो ठीक नहीं क्योंकि कार्य जगत् और कारण चैतन्य में अभेद होने से जगत् चेतन तथा नित्य होने लगेगा ? इन दोनों शङ्काओं का समाधान करते हैं कि—

"जैसे अज्ञान में आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ हैं। वैसे ही अज्ञानोपहित चैतन्य ही चैतन्यांश की प्रधानता में जगत् का निमित्त कारण है और अज्ञानोपाधि प्रधानता में उपादान कारण है।" जैसे लूता (मकड़ी) अपने कार्य तन्तु के प्रति चेतन प्रधानता में निमित्त कारण और शरीर प्रधानता में उपादान करण है । मकड़ी

में चैतन्य न हो तो केवल मकड़ी का देह तन्तु नहीं बना सकता। यदि चेतना हो देह न हो तो भी तन्तु नहीं बन सकता। अतः मकड़ी चेतना के रूप में तन्तु के प्रति निमित्त कारण है और शरीर प्रधानता में उपादान कारण बनती है। इसी प्रकार ईश्वर चेतना का प्रधानता में जगत् का निमित्त कारण और अज्ञान की प्रधानता में उपादान-कारण है। अज्ञान, अविद्या और माया पर्याय शब्द हैं। अतः ईश्वर जगत् का साक्षात् निमित्त कारण है और मयावी ईश्वर परम्परया उपादान कारण है।

सृष्टिक्रमः

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते॥

कार्यरूपस्य जगतः उत्पत्तिक्रमस्तु, तमोगुणप्रधानात् विक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। आकाशादेः जडत्वात् तादृशाज्ञानावच्छिन्नचैतन्यस्यैव आकाशादिप्रपञ्चजनकत्वमित्यर्थः। अत्रार्थे श्रुतिश्च तस्माद्वा······सम्भूतः। आकाशादिषु जाड्याधिक्यदर्शनात् आकाशादिकारणस्य तमः प्राधान्यं उचितमेव। कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते इति न्यायात्। इत्थं आकाशादीनाम् उत्पत्तिवेलायाम् कारणगुणानुरूपं तेषु आकाशादिषु सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणां गुणानामुत्पत्तिर्जायते। एतानि आकाशादीनि एव सूक्ष्मशरीरादिकारणभूतानि अपञ्चीकृतानि क्रमशः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मा-

त्राणि चोच्यन्ते। एतेभ्यः अपञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः (तन्मात्रेभ्यः) सूक्ष्मभूतेभ्यः अपञ्चीकृतसूक्ष्मशरीराणि, पञ्चीकृतस्थूलभूतेभ्यः स्थलशरीराणि चोत्पद्यन्ते।

वह अज्ञानोपहित चैतन्य रूप ईश्वर निम्नलिखित क्रम से त्रिगुणात्मक जगत् की रचना करता है—तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्ति सम्पन्न अज्ञानोपहितचैतन्य (ईश्वर) से आकाश की उत्पत्ति होती है। उसके बाद आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। श्रुति भी यही कहती है कि 'तस्माद्वा एतस्माद् सम्भूतः, आकाशादि में जड़ता की अधिकता के कारण आकाशादि की उत्पत्ति में तमोगुण की प्रधानता मानी गई है। क्योंकि कारण के गुणों से ही कार्य के गुणों का निर्माण होता है। तमोगुण जड़ है अतः जड़ प्रधान आकाशादि तमोगुण की प्रधानता से उत्पन्न हुए हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण क्रमशः कारण गुण की अपेक्षा कार्य में उत्कृष्टरूप में उत्पन्न हुए हैं। इन्हें ही सूक्ष्मभूत, अथवा, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा अथवा अपञ्चीकृत भी कहा जाता है। इन्ही सूक्ष्मभूतों से (अपञ्चीकृत पञ्चभूतों अथवा पञ्चतन्मात्राओं से) अपञ्चीकृत सूक्ष्म शरीर तथा पञ्चीकृत स्थूल भूतों से स्थूलशरीर की उत्पत्ति होती है।

सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, वायुपञ्चकञ्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्योऽव्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां

प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम् । इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति । अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति । कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । एतानि पुनराकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते ।

तत्र सूक्ष्मशरीराणि—लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भावः एभिः इति लिङ्गानि तानि च तानि शरीराणि लिङ्गशरीराणि । तेषु सप्तदश अवयवाः भवन्ति । ते च अवयवाः ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकम्, वायुपञ्चकञ्चेति । तत्र पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि । एतानि ज्ञानेन्द्रियाणि क्रमेण आकाशस्य सात्विकांशात् श्रोत्रम्, वायोः सात्त्विकांशाद् त्वक्, तेजसः सात्विकांशाद् चक्षुः, जलस्य सात्विकांशाद् जिह्वा, पृथिव्याः सात्विकांशाद् घ्राणम् पृथक् पृथक् व्यस्तेभ्यः एकैस्मात् नतु समस्तेभ्यः (मिलितेभ्यः) उत्पद्यन्ते । बुद्धिः 'ब्रह्मैवाहम्' इत्थं निश्चयात्मिका अन्तःकारणस्य वृत्तिः बुद्धिः । मनः संकल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः । संकल्पश्च इदमित्थमेवेति विषयपरिच्छेदः संकल्पः, तद्विपर्ययः विकल्पः । इत्थं संशयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः मनः इति फलितम् । अनयोः बुद्धिमनसोः एवचित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः । अनुसन्धानात्मिका (स्मरणात्मिका) अन्तःकरणवृत्तिः चित्तम् तस्य बुद्धौ अन्तर्भावः । अभिमानात्मिका अन्तःकरणवृत्तिरहङ्कारः तस्य मनसि अन्तर्भावः । एते बुद्धिमनःचित्ताऽहङ्काराः मिलितेभ्यः आकाशवायुतेजोजलपृथिवीगतसात्विकांशेभ्यः उत्पद्यन्ते । एतेषां मनोबुद्धिचिन्ताहंकाराणां प्रकाशात्मकत्वात् सात्विकांशकार्यत्वम् ।

विज्ञानमयकोषः । ज्ञानेन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः सहिता बुद्धिः विज्ञानमयकोषो भवति । अयं विज्ञानमयः कोषः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुः

खित्वाद्यभिमानत्वेन स्वर्गादिलोकगामी भवति। व्यावहारिको जीव इत्युच्यते च।

मनः। यतः सत्वगुणप्रधानं अतः सत्वगुणांशोभ्यो जातं मनः श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैरेव सहितं सत् मनोमयकोषो भवति।

कर्मेन्द्रियाणि। कर्म साधनानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि। तानि च वाक्-पाणि-पाद-पायू-पस्थाख्यानि। एतानि कर्मेन्द्रियाणि आकाशादि-भूतानां व्यस्तेभ्यः रजोंशेभ्यः क्रमेण पृथक् पृथक् ज्ञायन्ते। यथा रजो-गुणप्रधानादाकाशात् वाक्, रजोंशप्रधानाद् वायोः पाणिः, रजोंशप्रधा-नादग्नेः पादः, रजोंशप्रधानात् जलात् पायुः, रजोंशप्रधानायाः पृथिव्या उपस्थ उत्पद्यते। सत्वरजस्तमसां गुणानां वर्तमानत्वेऽपि रजोंशस्या-धिक्ये कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते इति भावः।

सूक्ष्मशरीर के सत्रह अवयव होते हैं। सत्रह अवयव वाले इस सूक्ष्मशरीर को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं। प्रत्यगात्मा की सत्ता का जिस से ज्ञापन होता है उसे लिङ्ग कहते हैं। जो आत्मा की सत्ता का ज्ञापक शरीर है वह लिङ्ग-शरीर कहा जाता है।

अवयव १७। पांच ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि और मन, तथा पांच कर्मे-न्द्रियां, और पांच वायुइस प्रकार सूक्ष्मशरीर के कुल सत्रह अवयव हैं।

ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा, और घ्राण पांच हैं। इनमें आकाश के सात्विक अंश से श्रोत्र, वायु के सात्विक अंश से त्वक, तेज के सात्विक अंश से नेत्र, जलके सात्विक अंश से जिह्वा और पृथ्वी के सात्विक अंश से घ्राणकी उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति प्रत्येक भूतों से अलग-अलग हुई है मिलित से नहीं।

बुद्धि—अन्तः करण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। जैसे 'मैं ब्रह्म ही हूं।'

मन—अन्तः करण की संकल्प विकल्पात्मिका वृत्ति को मन कहते हैं। जैसे—'मैं देह हूं या चेतन' इस प्रकार 'मैं देह हूं' संकल्प के

वाद 'या चेतन' यह विव   वृत्ति मन हैं। बुद्धि और मन में क्रमशः चित्त और अहङ्कार का अन्तर्भाव होता है। स्मरणात्मिका अन्तः करणकी वृत्ति को चित्त तथा अभिमानात्मिका चित्तवृत्ति को अहंकार कहते है। इन मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार नाम के अन्तः करण की आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी के मिलित सात्विकांशों से उत्पत्ति होती है। ये सब प्रकाशक होंने से सत्त्वगुण के कार्य माने जाते हैं।

विज्ञानमकोशः। ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि रूप अन्तःकरण की बृत्ति को विज्ञानमयकोश कहते हैं। इसी विज्ञानमयकोश से युक्त चैतन्य कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी अपने को मान लेता है तव स्वर्ग आदि लोंकों में जाता है तथा व्यवहार में जीव कहा जाता है।

मनोमय कोशः। सत्त्वगुणांशों से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वगुण प्रधान मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनोमयकोश कहलाता है।

कर्मेन्द्रियाँ—कर्म की साधन इन्द्रियों को कर्मेन्द्रिय कहते हैं। वे वाक्, पाणि, पाद, गुदा और लिङ्ग नाम की पांच हैं। ये इन्द्रियां आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी रूप भूतों के रजोगुणांश से पृथक् पृथक् उत्पन्न होती हैं। जैसे रजो गुणांश प्रधान आकाश से वाक्, रजो गुणांश प्रधान वायु से पाणि (हाथ), रजो गुणांश प्रधान अग्नि से पाद (पैर) रजो गुणांश प्रधान जलसे गुदा, रजो गुणांश प्रधान पृथिवी से लिङ्ग की उत्पत्ति होती है।

वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः। केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग

उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावा-त्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्। एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतर-जोंऽशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽश-कार्यत्वम्। एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृ-रूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्ति-मान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एत-त्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते॥

वायुपञ्चकम्। तत्र वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्याः पञ्च। तेषु प्राणः ऊर्ध्वगमनशीलः नासाग्रस्थायी वायुः प्राणः। आपनः। अधोगमनशीलः मलापनयनव्यापारेण पायुर्गुदं उपस्थः लिङ्गम् तत्स्थानवर्तीत्यर्थः। व्यानः विष्वक्=सर्वत्र (परितः) गमनवान्, अखिलशरीरवर्ती वायुः व्यानः। उदानः—ऊर्ध्वगमनवान उत्क्रमणशीलः कण्ठस्थानवर्ती वायुरुदानः, समानः शरीरमध्यगतान्नपानादिसमीकरण-करः नाभिदेशस्थः समानः। समीकरणं=पाककरणं पाकश्च रस-रुधिर-शुक्र-पुरीषादिरूपेण परिणतिः। नच सांख्ये नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्ज-याख्याः पञ्च अन्येऽपि वायवः गणिताः ते कथं नात्रोक्ता इति वाच्यम् एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात् ते न पृथगुक्ताः। तद्यथा—उद्गिरणकरः नागः। उद्गिरणस्य च ऊर्ध्वमुखस्य वायोः=क्रियारूपत्वात् नागस्य उदा-नेऽन्तर्भावः। उन्मीलनकरः कूर्मः। उन्मीलनस्य अङ्गचेष्टारूपत्वात् कूर्मस्य व्यानेऽन्तर्भावः। क्षुधाकरः कृकरः। रसादीनां पाकान्तरमेव क्षुधाया उत्पत्तेः। कृकरस्य समानेऽन्तर्भावः। जृम्भणकरः देवदत्तः। निद्रालस्यादिजन्यस्य जृम्भणस्य परम्परया जनकत्वमपाने इति तस्य अपानेऽन्तर्भावः। पोषणकरः धनञ्जयः—अन्नादीनां समीकरणात् ततश्च रसादिरूपेण परिणतिकरणाच्च समान एव पोषणकरोतः धनञ्जयस्य समानेऽन्तर्भावः।

एते प्राणादयः आकाशादिगतरजोंशेभ्यः मिलितेभ्यः उत्पद्यते । इदं च प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत् प्राणमयकोशो भवति । तत्र प्राणप्रचुरत्वात् प्राणमयत्वम्, आत्माच्छादकत्वाच्च कोषत्वम् उपपद्यते । रजः क्रियात्मको भवति । अतः तज्जन्यं प्राणादिपञ्चकं (वायुपञ्चकं) क्रियात्मकं भवति । प्राणादिपञ्चकस्य (वायुपंचकस्य) च क्रियात्मकत्वं दृष्टमतः तस्य रजोंशकार्यत्वं निश्चीयते इत्यर्थः ।

एतेषु विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमयेषु त्रिषु कोषेषु मध्ये ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः विज्ञानमयकोषो भवति । इच्छाशक्तिमान् करणरूपः मनोमयकोषो भवति । क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः प्राणमयकोषो भवति । एतेषां कर्तृकरणक्रियारूपत्वेन योग्यतामभिलक्ष्यविभागः इति कथयन्ति । एतेन ज्ञानेन्द्रियसहितः बुद्धिरूपः कर्ता मनोज्ञानेन्द्रियरूपकरण (साध्य) साहाय्येन प्राणादिपञ्चके कर्मेन्द्रियपञ्चके च क्रियां करोति इति भावः । एतत्वकोषत्रयसंहितं सत् सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते ।

वायुपञ्चक—प्राण, अपान, व्यवान, उदान, और समान ये पांच वायु हैं । उनमें ऊपर की ओर चलने वाला नाक के अग्र भागमें स्थित होनेवाला वायु प्राण है । नीचे की ओर जानेवाला गुदा मार्ग में रहने वाला वायु अपान है । देह भरमें घूमने वाला और सकल देह में रहने वाला वायु व्यान है । ऊपर उठने वाला कण्ठमें रहने वाला वायु उदान है । देह के मध्य में रहने वाला तथा खाये हुए अन्न और पिये हुए जल का समीकरण करने वाला वायु समान है । समीकरण परिपाक करने को कहते हैं । परिपाक का अर्थ है कि रस, रुधिर, शुक्र, पुरीष रूपमें परिणत करना ।

सांख्यके मतमें नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय नामके पांच वायु अधिक माने गये हैं । उनमें उगिलवाने वाला वायु नाग है जो उदानमें अन्तर्भूत होता है । अंगचेष्टारूप उन्मीलन कराने वाला वायु कूर्म का व्यान में अन्तर्भाव है । भूख बढ़ाने वाले कृकर का समान में अन्तर्भाव है । जम्भाई लाने वाले देवदत्त का अपान में अन्तर्भाव है ।

पुष्टकरने वाले धनञ्जयका भी समान में अन्तर्भाव हैं। इस प्रकार सांख्य के द्वारा मान्य उक्त वायुपञ्चक का प्राणादि वायुओं में अन्तर्भाव होजाने से पाँच ही वायु हैं ऐसा कुछ लोगों का मत है।

इन प्राण आदि पाँच वायुयों की उत्पत्ति आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी के मिलित रजोगुणांश से हुई है।

प्राणमयकोशः—इस प्रकार कर्मेन्द्रियों के सहित प्राण आदि पाँच वायु प्राणमयकोश होता है। यह क्रियात्मक होता है। अतः रजोगुण का कार्य मानना ही उचित है।

इन विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय कोशोंमें से विज्ञानमय कोश ज्ञान शक्ति से युक्त है अतः कर्ता है। इच्छाशक्ति से युक्त मनोमय कोश करण (साधन) है। क्रियाशक्ति वाला प्राणमय कोश कार्य है। यह विभाग कोशों की योग्यताके अनुरूप किया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि—ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि रूप कर्ता, मन एवं ज्ञानेन्द्रिय रूपी साधनों से प्राणादि पाँच में पाँच कर्मेन्द्रियों से क्रिया करवाता है। इन्हीं तीनों कोशों के मिलित रूप को सूक्ष्मशरीर कहते हैं।

सूक्ष्मप्रपञ्चनिरूपणम्

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं, जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक्तैजस' इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।

अत्रापि चराचरप्राणिमात्रस्य यावन्ति सूक्ष्मशरीराणि तेषां एकबुद्धिविषयतया वनवत्, जलराशिवद् वा समष्टिः, अनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवत्, जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत् सूक्ष्मशरीरसमष्ट्युपहितं सर्वप्राणिलिङ्गशरीरेषु स्रक्सूत्रमिव अनुस्यूतत्वात्, ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमत् कोषत्रयोपाध्युपहितत्वात् च सूत्रात्मा इति, हिरण्यगर्भः, प्राणश्चोच्यते। अस्य सूत्रात्मकहिरण्यगर्भस्य एषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय-कोशत्रयं विराड्रूपेणानुभूतस्थूलप्रपञ्चविषयकजाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नः, अतः सूक्ष्मत्वात् स्वप्नत्वाच्चैव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमित्युच्यते।

एतत् सूक्ष्मशरीरं व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात् तैजसो भवति। अस्यापि इयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय-कोशत्रयम्, विश्वचैतन्यानुभूतस्थूलशरीरविषयकजाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नः, अतः सूक्ष्मत्वात् स्वप्नत्वाच्चैव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।

एतौ सूत्रात्मतैजसौ स्वप्नकाले सूक्ष्माभिः कल्प्याभिः मनोवृत्तिभिः वासनामयान् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यान् सूक्ष्मविषयान् अनुभवतः। यथा-ईश्वरप्राज्ञौ सूक्ष्माभिर् अज्ञानवृत्तिभिः आनन्दनुमभवतः तथैव सूत्रात्मतैजसौ सूक्ष्माभिः मनोवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः इति विशेषः। श्रुतिश्च-प्रविविक्तभुक् तैजसः इति।

अत्रापि समष्टिरूपस्य विज्ञानमयादिकोशत्रयस्य तदवच्छिन्नसूत्रात्मनश्च, एवं व्यष्टिरूपस्य विज्ञानमयादिकोशत्रयस्य तदवच्चिच्छिन्नतैजसस्य च चैतन्यस्य वनवृक्षयोः, तदवच्छिन्नाकाशयोरिव, अथवा जलाशयजलयोः तद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वा अभेदः। एवम् अपञ्चीकृतभूतेभ्यः सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिक्रमः वर्णितः।

इस पक्षमें भी चर-अचर-प्राणिमात्र के जितने सूक्ष्मशरीर हैं उन सब को जब शरीरत्वेन रूपेण एक मानते हैं तब सब शरीर एक बुद्धिका विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय की भांति समष्टि पद से व्यवहृत होते हैं। वे ही सूक्ष्म शरीर जब वृक्ष अथवा जलकी भांति अनेक बुद्धि का विषय होते हैं तब व्यष्टि पद से व्यवहृत होते हैं। इस सूक्ष्मशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य समस्त प्राणियों के लिङ्गशरीर में माला में सूत्र की भांति अनुस्यूत है अतः ज्ञानशक्तिमत् विज्ञानमय कोषात्मक उपाधि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा कहा जाता है, वही समस्त प्राणियों की इच्छाशक्तिमान मनोमयकोषरूप अन्तः करण से उपहित होता है अतः हिरण्यगर्भ कहा जाता है। वही समस्त प्राणियों की क्रियाशक्तिमान प्राणमय कोशरूप अन्तः करण से उपहित होता है अतः प्राण कहा जाता है। इस सूत्रात्मक हिरण्यगर्भ (विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय कोष) की यह समष्टि स्थूल प्रपञ्चकी अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर कही जाती है। और यही विज्ञानमयादि कोषत्रय विराट् रूपसे जाग्रतावस्था में अनुभूत जो स्थूल प्रपञ्चविषय उनकी वासनामय होनेके कारण स्वप्न कही जाती है। यतः हिरण्यगर्भ की यह समष्टि वासनामय होनेसे स्वप्न हैं तथा सूक्ष्म है अतएव स्थूल प्रपञ्चके लय का स्थान कही जाती है।

इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य तेजोमय (वासनामय) अन्तः करण की उपाधि से युक्त होता है अतः तैजस कहा जाता है। इस तैजस की यह व्यष्टि भी स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने से सूक्ष्म शरीर कही जाती है। विज्ञान मयादि कोशत्रय विश्वचैतन्य से अनुभूत स्थूल शरीर विषयक जाग्रद्वासनामय होने के कारण स्वप्न कही जाती है। यतः वासनामय होने से स्वप्न है तथा सूक्ष्म है अत एव स्थूल प्रपञ्चका लयस्थान कही जाती है।

ये दोनों सूत्रात्मा और तैजस स्वप्नकाल में सूक्ष्म मनोवृत्तियों से वासनामय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामके सूक्ष्मविषयों का अनुभव

करते हैं। जैसे ईश्वर और प्राज्ञ सूक्ष्म अज्ञान वृत्तियों से आनन्द का अनुभव करते हैं वैसे सूत्रात्मा और तैजस सूक्ष्म मनोवृत्तियों से आनन्दानुभव करते हैं। विशेषता इतनी है कि ईश्वर और प्राज्ञ अज्ञानवृत्ति से आनन्दानुभव करते हैं किन्तु सूत्रात्मा और तैजस मनोवृत्ति से आनन्द का अनुभव करते हैं। श्रुति भी कहती है कि—तैजस प्रविविक्तभुक् (सूक्ष्मजगत् का भोक्ता) है।

यहाँ भी समष्टि रूप विज्ञानमयादि कोशत्रय तथा तदुपहित चैतन्य सूत्रात्मा, स्वयं व्यष्टिरूप विज्ञानमयादि कोशत्रय तथा तदुपहित चैतन्य तैजस का वन और वृक्ष तथा वनावच्छिन्न आकाश एवं वृक्षावच्छिन्न आकाश की भाँति अथवा जलाशय और जल तथा तत् प्रतिबिम्बाकाशकी भांति अभेद है। अर्थात् आकाश के एक होने पर भी जैसे बाग के आकाश में बादल हैं, वृक्षके आकाश में बादल हैं इस प्रकार के व्यवहार में आकाश में भेद ज्ञात होता है किन्तु वृक्ष तथा बाग उपाधि हटा देने पर आकाश एक है।

इस प्रकार यहाँ तक अपञ्चीकृत भूतोंसे सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति वर्णित हुई।

स्थूलभूतनिरूपणम्

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि।

अपञ्चीकृत भूतेभ्यः सूक्ष्मप्रपञ्चस्योत्पत्तिः प्रतिपादिता। इदानीं पञ्चीकृतमहाभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चस्योत्पत्तिक्रमवर्णने पूर्वं स्थूलभूतोत्पत्तिक्रमं निरूप्यते-पञ्चीकृतानि भूतानि स्थूलभूतानि कथ्यन्ते।

अपञ्चीकृत भूतों से सूक्ष्मप्रपञ्च की उत्पत्ति बताई जा चुकी। अब पञ्चीकृतमहाभूतों से स्थूलप्रपञ्च की उत्पत्तिक्रम के वर्णन के पूर्व स्थूलभूतों की उत्पत्ति की प्रक्रिया बताते हैं कि—भूतों के पञ्चीकरण से स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है।

पञ्चीकरणप्रकारः

पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वैकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्। तदुक्तम्—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते॥' इति॥

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं; त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति, तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च॥

आकाशादिपञ्चभूतेषु एकैकं भूतं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु सर्वेषां प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्द्धं विहाय अन्यभूतस्य द्वितीयार्द्धेषु एकैकं योजयेत्। एवं प्रत्येकं भूतस्य स्वकीयः अर्द्धमंशः अन्यदर्द्धं अन्यभूतद्वितीयार्द्धस्य चतुर्थांशेषु एकैकमंशः इति चत्वारः अन्यभूतांशाः इति एकं स्थूलभूतं निष्पन्नम्। एवं द्वितीयादि।

अयमेव प्रकारः द्विधा विधाय चैकैकं···इत्यादिना पञ्चदश्यामुक्तः। न च छान्दोग्योपनिषदि 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति त्रिवृत्करणश्रुत्या त्रिवृत्करणं प्रतिपादितं न पञ्चीकरणम्। त्रिवृत्करणं च त्रयाणां तेजोऽबन्नानां भूतानामेकैकं द्विधा विभज्य अर्द्धत्रयमपि प्रत्येकं द्विधा बिभज्य तत्तदर्द्धद्वयस्य स्वार्द्धपरित्यागेनार्द्धान्तिरे एकैकभागस्य संयोजनम्' इति पञ्चीकरणमप्रामाणिकमिति वाच्यम्, आत्मनः आकाशः संभूतः इत्यादिना पञ्चानामपि भूतानां सृष्ट्याम्नानात् त्रिवृत्करणस्य पञ्चीकरणस्यापि उपलक्षणत्वात्। उपलक्षणत्वं च 'स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम्'।

न च पञ्चानां भूतानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि कथमसाधारण्येन आकाशादिव्यवहार इति वाच्यम्' वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेन आकाशादिभागानामाधिक्यात् आकाशादिव्यपदेशात् ।

नचैवं पञ्चानामपि महाभूतानां पञ्चात्मकत्वे आकाशवाय्योरपि रूपवत्त्वमहत्त्वाभ्यां चाक्षुषत्वं प्रसज्येत इति वाच्यम् रूपवत्त्वमहत्त्वयोर्विद्यमानत्वेऽपि आकाशादिभागस्याधिक्येन तदभिभवात् न चाक्षुषत्वापत्तिः। अतएव तदानीं (पञ्चीकरणानन्तरं) आकाशेऽव्यक्तरूपेण स्थितः शब्दोभिव्यज्यते, वायौ शब्दस्पर्शौ, अग्नौ शब्दस्पर्शरूपाणि, अप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः अभिव्यज्यन्ते। पञ्चीकरणानङ्गीकारे आकाशवाय्योः सूक्ष्मत्वेन आकाशे शब्दस्य, वायौ शब्दस्पर्शयोः प्रत्यक्षं न स्यात् । प्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्य कारणत्वात् ।

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पाँच भूतों में प्रत्येक के दो दो भाग बना लिये जाँय। और इनमें पाँचों भूतों के द्वितीय भाग को सुरक्षित रख लिया जाय। प्रथम भाग में चार-चार भाग पुनः बनायें जांय। इस प्रकार प्रत्येक भूतों के पाँच-पाँच भाग हुए। जिनमें एक तो द्वितीयार्द्ध शेष प्रथमार्थ के चार भाग। अब पाँचों अर्धभागों को पाँच स्थान पर रख दीजिए। तथा उनके नीचे के पांच खाने में पाँचों भूतों के शेष चारो भागों को रख दीजिए। अब आकाश के चार भागों को उठाकर आकाश के खाने को छोड़कर अन्य चारो खानों में एक-एक रखते जाइए। फिर दूसरा उठाइये उसे भी अपने कोष्ठक के अलावा अन्य कोष्ठकों में रख दीजिए। इस प्रकार पाँचों भूतों के प्रथमार्ध के चार भाग जब बाँट दिये जायँगे तब प्रत्येक द्वितीयार्ध के साथ अन्य भूतों में प्रत्येक के एक-एक तथा कुल मिलकर चार भाग और हो जायगें। तथा पाँच-पाँच भागों का पाँच कोष्टक होगा। इस प्रकार अपने से अतिरिक्त चार भूतों के चतुर्थांश तथा अपने आधे अंश के साथ एक-एक पंचीकृत भूत उत्पन्न होता है। इसका ही सम-

र्थन पंचदशी में 'द्विधा विधाय ···· ··· पञ्च ते, कारिका से किया गया।

यदि कहा जाय कि छान्दोग्य उपनिषत् में 'तासां त्रिवृतं त्रिवृत मेकैकां करवाणि, इस मंत्र के द्वारा त्रिवृत् करण ही कहा गया है। त्रिवृत्करण की प्रक्रिया इस प्रकार है। तेज, जल तथा अन्न के एक-एक को दो-दो भागों में बांटिये। फिर तीनों के प्रथमार्थ को दो दो भागो में पुनः बांटिये। फिर तीनों के द्वितीयार्ध को पृथक्-पृथक् तीन स्थानों पर रखकर उनके नीचे के कोष्टक में प्रथमार्ध के दोनों भागों को रख दीजिए। इस प्रकार प्रत्येक के त्रिवृत बनेंगे। इनमें प्रत्येक के नीचे रखते हुए प्रथमार्ध के दोनों भागों को अपने कोष्ठ से अतिरिक्त दो कोष्ठों में बांट दीजिए। इसी प्रकार सबके बंट जाने पर एक एक त्रिवृत बनेगा। त्रिवृतकरण इस प्रकार से विरुद्ध होने के कारण पंचीकरण अप्रामणिक है। तो ठीक नहीं क्योंकि 'आत्मनः आकाश सम्भूतः' इत्यादि श्रुतियों द्वारा पाँचों भूतों की सृष्टि कही गई है जो बिना पंचीकरण के बन नहीं सकती। अतः यह मानना ही पड़ता है कि त्रिवृत्करण पंचीकरण का भी उपलक्षण है। अतः पंचीकरण प्रक्रिया अप्रामाणिक नहीं है।

यहाँ यह भी शंका उठती है कि जब पाँचों में पाँचोंभूत अंशतः विद्यमान हैं तब सबको एक नाम से न कहकर यह आकाश है, वायु है इस प्रकार कहना उचित नहीं है। किन्तु यह शंका उचित नहीं क्योंकि जिसमें आकाश का भाग अधिक है उसे आकाश, जिसमें वायु का भाग अधिक उसे वायु कहते हैं। यह आकाश, वायु आदि व्यवहार अंश की विशेषता (अधिकता) को ध्यान में रखकर होता है।

यहाँ यह भी शंका उठती है कि जब पाँचों भूत पंचात्मक हैं तो आकाश और वायु में भी रूपवत्व, तथा महत्त्व होने के कारण चाक्षुष प्रत्यक्ष होने लग जाय। किन्तु यह भी शंका उचित नहीं क्योंकि रूपवत्व और महत्त्व के रहने पर भी आकाश भाग की अधिकता के

कारण रूप आदि अभिभूत रहते हैं। इसलिए आकाश आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए पञ्चीकृत आकाश में शब्द, वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस, पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की अभिव्यक्ति होती है।

स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि॥

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः पञ्चभूतेभ्यः भू-र्भुवः-स्व-र्मह-र्जन-स्तपः-सत्यम् इति नामकानां क्रमशः उपर्युपरिविद्यमानाम्, एवम् अतल-वितल-सुतल-रसातल-तलातल-महातल-पातालनामकानाम् क्रमशः अधोधोविद्यमानानां योजनया चतुर्दशानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य, तदन्तर्वर्त्ति चतुर्विधस्थूलशरीणाम्, तेभ्यः तेभ्यः उचितानाम् अन्नानाम् पानीयानां अन्येषां लेह्यचोष्यादीनाम् उत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजम्, अण्डजम्, उद्भिज-स्वेदजम् इति। तत्र जरायुभ्योजातानिजरायुजानि मनुष्यपशुप्रभृतीनि। जरायुर्नाम तत् चर्मपात्रं यस्मिन् गर्भस्थः बालः बद्धो भवति। अण्डेभ्योजातानि अण्डजानि पक्षिपन्नगादीनि। अण्डोनाम लोकप्रसिद्धः। कुक्कुटाण्डस्य सर्वत्र द्विकर्णिकासु (दूकान) सामान्यतयोपलब्धेः। भूमिमुद्भिद्य जातानि उद्भिज्जानि।

तृणकक्षगुल्मवृक्षादीनि । स्वेदेभ्यः जातानि स्वेदजानि यूकालिक्षमशका- दीनि । अत्र स्वेदशब्दः न केवलं घर्मोदकपरः किन्तु स्विन्नतासम्पादक-जलपरः । तेन जलसम्पृक्ते भूभागेऽपि मशकादीनाम् उत्पत्तिः संगच्छते ।

इन पंचीकृत महाभूतों से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। जिस ब्रह्माण्ड में सात लोक ऊपर और सात लोक नीचे हैं। ऊपर के लोकों को नीचे की ओर से क्रमशः ऊपर ऊपर भूलोक, भुवःर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के नीच वाले द्वितीयार्ध के ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः अतललोक, वितललोक, सुतललोक, रसातललोक, महातललोक, और पाताललोक हैं। इस प्रकार चतुर्दश लोकों वाले ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। इस ब्रह्माण्ड में लोकों के अन्दर चार प्रकार के स्थूल शरीरों तथा उनके लिए उचित अन्न, पानीय लेह्य तथा चोष्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है। चार प्रकार के शरीर निम्नलिखित हैं—

१—जरायुज, २—अण्डज, ३—उद्भिज्ज, ४—स्वेदज। इनमें जरायु से उत्पन्न होनेवाले जरायुज कहे जाते हैं। जैसे मनुष्य और पशु आदि। जरायु वह चमड़े की थैली है जिसमें गर्भस्थ बालक सुरक्षित रहता है। अण्डों से उत्पन्न होनेवाले अण्डज कहे जाते हैं। जैसे पक्षी, सर्प, चींटी आदि। अण्डा वह वस्तु है जो लोक की भाषा में प्रसिद्ध है। जिनमें से कुक्कुट का अण्डा सामान्यतः दूकानों पर दिखाई पड़ता है। भूमि को फोड़कर उत्पन्न होनेवाले उद्भिज्ज कहे जाते हैं। जैसे तृण-कक्ष-गुल्म-वृक्ष आदि। स्वेद से उत्पन्न होने वाले स्वेदज कहे जाते हैं। जैसे जूं लीख, मशक आदि। यहाँ स्वेद शब्द केवल नर देह से उत्पन्न घर्मोदक के लिए नहीं प्रयुक्त है किन्तु भूमि की स्विन्नता सम्पादक जल के लिए भी है। इसीलिए सीड़नवाली भूमि में मशकों की उत्पत्ति देखी गई है।

स्थूलप्रपञ्चनिरूपणम्

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिः, वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्स-

समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते।

अत्रापि चतुर्विधं स्थूलशरीरमिदं शरीरमिति एकबुद्धिविषयतया वनवत् जलाशयवद्वा समष्टिः, प्रत्येकं नरशरीरम्, वानरशरीरम् देवदत्तशरीरम् इति अनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवत्, जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।

विराट—तत्र स्थूलशरीरसमष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरः, विराट् इति चोच्यते। विश्वे नरा अस्य इत्यर्थे विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्य्यायः। तेन सर्वनराभिमानित्वात् वैश्वानरः, इति विविधं राजमानत्वाच्च विराट् इति चकारात् पूर्णत्वात् पुरुष इति चोच्यते।

अस्य विराट् चैतन्यस्य एषा समष्टिः स्थूलशरीरम् अन्नविकारत्वदन्नमयकोषः स्थूलविषयभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरमिति, इन्द्रियैस्तत्तादर्थोपलब्धेश्च जाग्रद् इति उच्यते।

एतेषां चतुर्विधशरीराणां या व्यष्टिः तत्तत्शरीरव्यक्तिः तदुपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते। सूक्ष्मलिङ्गशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरेषु प्रविश्य तत्तत् स्थूलशरीरेषु सर्वेषु प्रत्येकमहम् अहम् इत्यभिमानवत्वात् सर्वशब्दस्य पर्यायतया विश्व इति अन्वर्थसंज्ञां लभते।

अस्य विश्वस्य एषा तत्तत् शरीरव्यक्तिलक्षणा व्यष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नविकारत्वाद् एव हेतोः अन्नमयकोशः, स्थूलभोगायतनत्वात् स्थूलइन्द्रियैरर्थोपलम्भाच्च जाग्रत् इति चोच्यते।

सूक्ष्म शरीर की भांति पूर्वोक्त चार प्रकार के स्थूल शरीर 'ये शरीर हैं' इस प्रकार से जब शरीरत्वेन रूपेण बुद्धि के विषय होते हैं तब वन अथवा जलाशय की भांति समष्टि पद से व्यवहृत होते है और जब नरशरीर, वानरशरीर, देवदत्तशरीर आदि रूप में अनेक बुद्धि के विषय होते हैं तब वृक्ष या जल की भांति व्यष्टि शब्द से व्यवहृत होते हैं।

विराट—इनमें स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य को वैश्वानर और विराट् कहते हैं। विश्वे नरा अस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त प्राणियों में 'मैं' इस अहंकार के साथ विराजमान होता है अत: वैश्वानर और विविध प्रकार से शोभायमान होने के कारण विराट् भी कहा जाता है। यहाँ चकार पद से पुरुष भी उसकी संज्ञा मानी जाती है। पूर्ण होता है अतः पुरुष है।

विराट् चैतन्य की यह समष्टि (स्थूल शरीर) माता पिता के भुक्त अन्न रस से उत्पन्न होने के कारण **अन्नमयकोष**, स्थूल विषयों के भोग का आयतन होने से **स्थूलशरीर**, और इन्द्रियों द्वारा उन उन इन्द्रियों से ग्राह्य पदार्थों का भोक्ता होने के कारण जाग्रत भी कही जाती है।

इसी प्रकार इन चार प्रकार के स्थूल शरीरों की व्यष्टि (तत्तत् शरीर व्यक्ति) से उपहित चैतन्य विश्व कहा जाता है। यह सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीर के अभिमान का परित्याग किये बिना स्थूल शरीर में प्रवेश करके समस्त स्थूल शरीरों में एक एक करके (मैं, मैं) इस अभिमान के साथ वर्तमान होता है। अतः सर्व शब्द के पर्याय विश्व शब्द से अन्वर्थ नाम प्राप्त करता है।

विश्व—इस विश्व चैतन्य की यह अलग, अलग शरीररूपा व्यष्टि (स्थूलशरीर) अन्न विकार होने के कारण **अन्नमयकोष**, स्थूल विषयों के भोग का आयतन होने से **स्थूलशरीर**, और इन्द्रियों से ग्राह्य पदार्थों का ग्रहण के कारण जाग्रत कही जाती है।

विश्ववैश्वानरयोः विषयानुभवप्रकारः

तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्श रूपरसगन्धान्, अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दान्, चन्द्र-चतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतः 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' इत्यादिश्रुतेः ।

तदानीं (जाग्रदवस्थायाम्) एतौ विश्ववैश्वानरौ दिङ् नियन्त्रितेन श्रोत्रेण शब्दस्य, वायुनियन्त्रितेन त्वाचा स्पर्शस्य, सूर्यनियन्त्रितेन नेत्रेण रूपस्य, वरुणनियन्त्रितेन रसनेन्द्रियेण रसस्य, अश्विभिः नियन्त्रितेन घ्राणेन गन्धस्य, अग्निनियन्त्रितेन वाचा वचनस्य, इन्द्रनियन्त्रितेन पाणिना आदानस्य (ग्रहणस्य), उपेन्द्रनियन्त्रतेन पादेन गमनस्य, यमनियन्त्रितेन पायुना विसर्गस्य (त्यागस्य), प्रजापतिनियन्त्रितेन उपस्थेन आनन्दस्य, चन्द्रनियन्त्रितेन अन्तरिन्द्रियेण मनसा संकल्पस्य, चतुर्मुखेन (ब्राह्मणा) नियन्त्रितेन अन्तरिन्द्रियेण बुद्धया निश्चयस्य, शङ्करनियन्त्रितेन अन्तरिन्द्रियेणाहङ्कारेण अहङ्कार्यस्य, विष्णुनियन्त्रतेन चित्तेन चैत्तस्य च स्थूलविषयस्य अनुभवं कुरुतः । श्रुतिश्च-जागरितस्थानो बहिः=प्रज्ञः इति ।

ये दोनों विश्व और वैश्वानर दिशा से नियन्वित श्रोत्र द्वारा शब्द का, वायुनियन्त्रित त्वचा द्वारा स्पर्श का, सूर्यनियन्त्रित नेत्र द्वारा रूप का, वरुण नियन्त्रित रसना द्वारा रसका, अश्विनी कुमार से नियन्त्रित घ्राण द्वारा गंध का, अग्निनियंत्रित वाक् से वाणी का, इन्द्र से नियंत्रित हाथ द्वारा ग्रहण का (पकड़ना), उपेंद्र से नियंत्रित पैर से चलने का, यम से नियंत्रित गुदा से त्याग का, प्रजापति से नियंत्रित लिङ्ग से आनंद

का, चंद्र नियंत्रित अंतरिन्द्रिय मन से संकल्प का, चतुर्मुख से नियंत्रित बुद्धि द्वारा निश्चय करने का, शङ्कर से नियंत्रित अहङ्कार द्वारा अहं प्रतीति विषय का और विष्णु नियंत्रित चित्त से चित्त में आने वाले स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। श्रुति भी कहती है कि जागरित-स्थानो बहिः प्रज्ञः।

विश्ववैश्वानरयोः अभेदप्रतिपादनम्

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः। एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः॥

अत्रापि अनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्टयोः, तदुपहितयोर्विश्ववैश्वानरयोश्च वनवत् वनावच्छिन्नाकाशवत् वृक्षवत् वृक्षावच्छिन्नाकाशवत् वा अभेदः अथवा जलाशयवत् तद्गतप्रविम्बाकाशवत्, जलवत् तद्गत-प्रतिविम्बाकाशवद्वा अभेदः। एवं पञ्चीकृतेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यः स्थूल-भूतानां तत्प्रपञ्चस्य चोत्पत्तिर्जायते।

इस प्रकार स्थूल व्यष्टि से उपहित चैतन्य विश्व और स्थूल समष्टि से उपहित चैतन्य वैश्वानर भी वृक्ष और वन, अथवा वृक्षावच्छिन्नाकाश और वनाच्छिन्नाकाश, अथवा जल और जलाशय अथवा जल प्रतिविम्बा-काश और जलाशय प्रतिबिम्बाकाश की भाँति भिन्न नहीं है किंतु एक हैं।

इस प्रकार पञ्च महाभूतों से स्थूलभूतों तथा उनसे उत्पन्न जगत् की उत्पत्ति का क्रम वर्णन समाप्त हुआ।

महाप्रपञ्चनिरूपणम्

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा

वाऽवान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवद-वान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव। आभ्यां महाप्रपञ्च-तदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्ल-क्ष्यमपि भवति।

एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः॥

एतेषां स्थूल-सूक्ष्म-कारणाख्यानां प्रपञ्चानामपि समष्टिः एकः महान् प्रपञ्चः भवति। यथा वृक्षाणां समष्टिः वनम् तथा वनानां समष्टिः एकं महद्वनं भवति। यथा वा अवान्तरजलानां समष्टिः जलाशयः तथा जलाशयानां समष्टिः एको महान् जलाशयः भवति। एवम् अवान्तरप्रपञ्चोपहितचैतन्यं विश्ववैश्वानरादीश्वरपर्यन्तमपि वनाव-च्छिन्नाकाशवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव, यथा वा जलाशयावच्छिन्नाकाश-जलावच्छिन्नाकाशयोरिव वा एकमेव।

आभ्यां महाप्रपंच—तदुपहितचैतन्याभ्यां चाभिन्नं तप्तायः पिण्डवत् अविविक्तं पृथक् विवेक्तुमशक्यं सत् अनुपहितं चैतन्यं (शुद्धं चैतन्यं) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति महावाक्यस्य वाच्यं भवति, अन्योन्यतादात्म्या-ध्यासेन विविक्तं सत् लक्ष्यमपि भवति।

एवं सच्चिदानन्दात्मके चैतन्ये वस्तुनि अज्ञानादिसकलजडसमूहस्य-पूर्ववर्णितस्य अध्यारोपः सामान्येन (संक्षेपतः) वर्णितः।

इन स्थूल-सूक्ष्म, और कारण प्रपंचों की समष्टि भी एक महा-प्रपंच कही जाती है। जैसे वृक्षों की समष्टि वन और वनों की समष्टि एक महा वन है। अथवा जैसे जलों की समष्टि जलाशय और जलाशयों की समष्टि का एक महान् जलराशि है वैसे अवान्तर प्रपंचों से उपहित चैतन्य (विश्व-वैश्वानर से लेकर ईश्वर तक) वनाकाश तथा वृक्षाकाश की भाँति या जलशयप्रतिबिम्बाकाश तथा जलप्रतिबिम्बा-काश की भाँति एक ही है।

इन महाप्रपंचों और उनसे उपहित चैतन्यों से अभिन्न होकर अनुपहित (शुद्ध) चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस महावाक्य का वाच्यार्थं है। वही भिन्न होने पर लक्ष्यार्थ है। अर्थात् जैसे लोहा अग्नि में जब तप जाता है तब उसके स्पर्श से जल जाने पर मैं आग से जल गया, या लोहे से जल गया' इस प्रकार के व्यवहार होते हैं। वस्तुतः आग से ही जला जाता है लोहे से नहीं, किंतु जब लोहे को अग्नि माना जाय या अग्नि और लोहे में तादात्म्याध्यास माना जाय तभी दोनों व्यवहार बन सकते है। इसी प्रकार महाप्रपंच तथा तदुपहित चैतन्य के साथ अन्योन्यतादात्म्याध्यासापन्न जो शुद्ध चैतन्य वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाक्य का वाच्यार्थ है। और जब महाप्रपंच और तदुपहित चैतन्य से शुद्ध चैतन्य को अलग मानते है तो वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ होता है। अर्थात् जैसे 'अयो दहति,' में मुख्यार्थ का बाध होने पर 'अयः' पद की अयः सम्बद्ध अग्नि में लक्षणा होती है लोहे का अग्नि जलाता है यह लक्ष्यार्थ बोध होता है वैसे महाप्रपंचोपहितचैतन्य 'इदं' का मुख्यार्थ और अनुपहित चैतन्य 'ब्रह्म' के मुख्यार्थ का एक होना बाधित हुआ तब इदं पदार्थ के विशेषणांशका परित्याग कर देने पर लक्षणा द्वारा इदं और ब्रह्म की एकता सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार सत् चित् आनद रूप चैतन्य वस्तु में अज्ञान आदि सकल जड समूह रूप अवस्तु का अध्यारोप संक्षेप से वर्णित किया गया है।

वादिमते प्रत्यक्चेतन्यस्वरूपम्

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते।

अतिप्राकृतस्तु—'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।

चार्वाकस्तु—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्त-

गृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः—'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः—'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।

अन्यस्तु चार्वाकः—'अन्योन्तर आत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति।

बौद्धस्तु—'अन्दोऽन्तर आत्मा विज्ञानमय' इत्यादिश्रुतेः कतुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्त्ताऽहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।

प्राभाकरतार्किकौ—तु 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय' इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः।

भाट्टस्तु—'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति।

अपरो बौद्धः—असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति॥

ईश्वरचैतन्ये सामान्यतः महाप्रपञ्चाध्यारोपप्रकारमुक्त्वा इदानीं प्रत्यगात्मनि अयम् वादी इदमारोपयति इति विशेषतः आरोपस्य प्रकारं निरूप्यते—

पुत्रात्मवादिनः। अतिप्राकृताः=स्थूलबुद्धयस्तु स्वस्मिन् इव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात् पुत्रे नष्टे अहमेव नष्टः, पुत्रे पुष्टे अहमेव पुष्टः इत्या-

ह्यनुभावत्, 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेश्च पुत्रः आत्मेति वदन्ति। एवं सर्वत्र 'अहं' पदवाच्यः पुत्र एव आत्मा इति सिद्धम्। यद्यपि अतिप्राकृतस्य श्रुत्युपन्यासो न युक्तः तत्प्रामाण्यानंगीकारात् तथापि सिद्धान्तिना तत्प्रामाण्याङ्गीकारेण तदुपन्यासः कृतः।

स्थूलशरीरात्मवादी चार्वाकः—तु अग्निना प्रदीप्तगृहात् स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्, स्थूलोऽहं, कृशोऽहम् इत्याद्यनुभवात् 'स वै यः ओषधीनान्नादीनां रेतोरूपेण परिणतानां परिणामः स एष शिरः पाण्याद्यात्मकः पुरुषः अन्नरसविकारः तेनैवोपचीयमानः इत्यर्थिकायाः 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादिश्रुतेश्च स्थूलशरीरमेव 'अहं' पदवाच्यः आत्मा। पुत्रस्य आत्मत्वप्रतिपादिका 'आत्मा वै पुत्र नामासि' इति श्रुतिस्तु पुत्रस्य प्रियत्वमाह इति वदति। अत्र 'चारुर्बृहस्पतौ पुंसि शोभनेत्यभिधेयवत्' 'इति विश्वकोशमतेन चारुः बृहस्पतिः तस्य आकः मतम् यणि चार्वाकः इति सिद्ध्यति। अकगतौ घञि आकः इति सिद्धेः।

इन्द्रियात्मवादी अपरः लोकायतचार्वाकः तु—'तेह प्राणाः प्रजापतिमेत्य ब्रूयुः' इति श्रुतेः, अत्र प्राणाः—इन्द्रियाणि। ते च प्रजापतिमेत्य ब्रूयुः इत्यनेन गमनस्य वचनस्य च चेतननिष्ठत्वेन इन्द्रियाणां चेतनत्वमाश्रमणीयम्। इन्द्रियाणामभावे (उपरमे) सुषुप्तौ देहचलनस्य चेतनकार्यस्य अदर्शनात्, काणोऽहम्, बधिरोऽहम् इत्यादिव्यवहारे इन्द्रियकाणत्वस्य 'अहमि' इन्द्रियबधिरत्वस्य च अहमि अनुभवात् 'अहं' पदवाच्यानि इन्द्रियाणि आत्मा न देहः इति वदति। अस्य मते 'स वा एष' इत्यादि श्रुतिः स्थूलदृष्टयभिप्रायेण अन्यथा बाल्ये दृष्टस्य यौवनादौ स्मरणं न स्यात्। स्थूलोऽहमित्याद्यनुभवस्तु देहस्य तादात्म्याध्यासात्।

प्राणात्मवादी अपरश्चार्वाकस्तु—प्राणाभावे अथवा मरणकाले अन्नाद्यलाभेन प्राणस्य दौर्बल्यात् इन्द्रियादिचलनायोगात्, अहं

पिपासावान्, अहं बुभुक्षावान् इत्याद्यनुभवात् 'अन्नमयादन्यः आन्तरः आत्मा प्राणमयः इत्यर्थिकया 'अन्योऽन्तरः आत्मा प्राणमयः' इत्यादि-श्रुतेश्च 'अहं' पदवाच्यः प्राण एव आत्मा इति वदति। अस्य मते 'ते ह प्राणाः' इत्यादिश्रुतिः इन्द्रियाधिष्ठातृदेवताभिप्राया अन्यथा 'योऽहं चक्षुषा रूपं पश्यामि, स एवाहं त्वगिन्द्रियेण स्पृशामि' 'इत्याद्यनुभवविरोधः स्यात्'।

मन आत्मवादी अन्यश्चार्वाकस्तु-प्राणमयादन्यः अन्तरः आत्मा मनोमयः इत्यर्थिकायाः 'अन्योऽन्तरः आत्मा मनोमयः' इति श्रुतेः' मूर्च्छादौ मनसि सुप्ते प्राणादेर्विलीनत्वस्य दर्शनात्, प्राणप्रवृत्तेः मनोधीनत्वात्, अहं संकल्पवान् इति मनोधर्मस्य 'अहमि' अनुभवाच्च 'अहं' पदवाच्यः मन एव आत्मा इति वदति। अस्य मते एकस्य मनसः आत्मत्वमुचितम्।

बुद्धिरेवात्मेतिवादी योगाचारमतावलम्बी बौद्धस्तु—मनोमया-दन्यः अन्तरः आत्मा विज्ञानमयः इत्यर्थिकायाः 'अन्योऽन्तरः आत्मा विज्ञानमयः' इति श्रुतेः, सुखादिज्ञानकरणत्वेन मनसः अनुमा-नात् सवत्र करणातिरिक्तस्य कर्तुर्दर्शनात् कर्तुरभावे करणस्य शक्त्य-भावात्, अहं कर्ता, अहं भोक्ता इतिकर्तृत्वेन, भोक्तृत्वेन च करणातिरिक्त-स्यानुभवाच्च बुद्धिः (क्षणिकविज्ञानम्) आत्मा इति वदति।

अज्ञानात्मवादिनौ प्राभाकरतार्किकौ—तु-विज्ञानमयादन्यः अंतरः आत्मा आनन्दमयः इत्यर्थिकायाः 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इति श्रुतेः, सुषुप्तौ बुद्ध्यादीनां ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादृष्टानां) ज्ञान-भिन्ने अतएव अज्ञाने किन्तु ज्ञानाद्याश्रये आत्मनि' यदा वै पुरुषः स्व-पिति इति श्रुतिषु लयदर्शनात्, अहमज्ञः, अहं ज्ञानी इति ज्ञानातिरिक्तत्वेन अनुभवाच्च अहं पदवाच्यः अज्ञानमात्मेति वदति।

यद्यपि प्राभाकरतर्किकौ-न आत्मा आनन्दरूपत्वेन स्वीकृतौ किन्तु सुखाश्रयत्वेन, नापि अज्ञानरूपत्वेन किन्तु ज्ञानाश्रयत्वेन, नापि ज्ञानाश्र-यस्य ज्ञानभिन्नत्वेन अज्ञानरूपत्वं वक्तुं युक्तम् वेदान्ताभिमतस्य अज्ञा-

नस्य प्राभाकरैस्तार्किकैर्वा अनङ्गीकारात् तथापि तैर्न चिद्रूपः आत्मा स्वीक्रियते किन्तु ज्ञानाश्रयः जडः, अनादिश्च, एवम्भूतश्च वस्तुतः न आत्मा 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यदिश्रुत्या आत्मनः ज्ञानरूपतायाः चिद्रूपतायाः प्रतिपादनात्। तस्मात् एताभ्याम् आत्मत्वेन स्वीकृतः अनादिसिद्धिः जडः पदार्थःवस्तुतः अज्ञानमेव तस्यापि जडत्वे सति अनादित्वात्। अतः तेषां मते अज्ञाने एव आत्मत्वभ्रमः। तच्चाज्ञानम् सुखाश्रयत्वेन आनन्दमयो भवति।

अज्ञानोपहितचैतन्यात्मवादिनो भाट्टाः कौमारास्तु—सुषुप्तौ 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तये आत्मनः बोधात्मकत्वं स्वीक्रियते। सच बोधांशः प्रकाशकः। नहि तत्र इन्द्रियाणां मनसो वा व्यापारः सुषुप्तौ तेषां व्यापाराभावात्। नापि अविद्या प्रकाशिका तस्याः जडत्वात्। एवं सुषुप्तौ 'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तये आत्मनः द्रव्यात्मकत्वमपि अप्रकाशांशः स्वीक्रियते। तेन सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावात् 'अहं माम् न जानामि' इति अनुभावात् आत्मनि कर्तरि भासमानेऽपि 'माम्' इति कर्मत्वमपि तस्मिन्नेव ज्ञाने भासते। इति आत्मनः ज्ञानाज्ञानात्मकत्वेनस्वीकरणीयत्वात् प्रज्ञानघन एवानन्दमयः इति श्रुतेश्च अज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मा इति वदन्ति।

शून्यात्मवादी अपरो माध्यमिको बौद्धस्तु—इदं नामरूपात्मकं जगत् अग्रे सृष्टेः प्राक्काले असत् शून्यमेव आसीत् इत्यर्थिकायाः 'असदेवेदमग्र आसीत्' इति श्रुतेः, सुषुप्तौ 'नाहमासम्' इति सुप्तोत्थितस्य निजाभावपरामर्शविषयकानुभवात् च न द्रव्यबोधात्मकत्वमात्मनः किन्तु सर्वाभावरूपशून्यमात्मेति वदति।

ईश्वर चैतन्य में सामान्यतः महाप्रपंच के अध्यारोप की प्रक्रिया बता लेने के बाद अब कौन वादी प्रत्यगात्मचैतन्य में क्या आरोप कैसे करता है, इसका प्रकार बताते हैं—

पुत्रात्मवादी—स्थूल मति वाले लोग 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस श्रुति, अपने देह की भांति अपने पुत्र के देह के प्रति अगाध प्रेम

होना इस युक्ति, और पुत्र की पुष्टता को अपनी पुष्टता और उसकी नष्टता को अपनी नष्टता का अनुभव होने से 'पुत्र ही आत्मा है' और वही अहं पद का वाच्य है ऐसा मानते हैं।

चर्वाक—जो स्थूल शरीर को ही आत्मा मानता है, उसका मत है कि घर में अग्नि के लग जाने पर अपने प्रिय पुत्र को जलते घर में त्यागकर अपना सर्वथा प्रिय देह लेकर प्राणी भाग जाता है अतः अपना देह सर्व प्रिय है, इस युक्ति, देह की स्थूलता तथा दुर्बलता पर 'मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ' इस प्रकार के अनुभव, तथा 'स वा एष पुरुषोऽन्नरस मयः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार स्थूल देह ही 'अहं' पद वाच्य आत्मा है। पुत्र को आत्मा कहने वाली श्रुति 'पुत्रको सर्वाधिक प्रिय मात्र' बताती है। चारु बृहस्पति का नाम है। अक गतौ धातु से घञ् प्रत्यय करने पर आकः बनता है। इस प्रकार चारु और आकः में यण हो जाने पर चार्वाक शब्द बनता है। अतः' 'बृहस्पति का मत' यह चार्वाक शब्द का अर्थ होता है।

लोकायतचार्वाक—जो इन्द्रियों को आत्मा मानता है उसका मत है कि—'ते ह प्राणाः प्रजापतिमेत्य ब्रूयुः' इस श्रुति में प्राणाः का अर्थ इन्द्रिय है। उनका प्रजापति के समीप जाना और बोलना आदि क्रियाय चेतन होने पर ही बनती हैं। अतः इन्द्रियां ही चेतन आत्मा है। इन्द्रियों के उपराम काल (सुषुप्ति) में देह का चलना नहीं देखा जाता इस युक्ति, और इन्द्रियों में विकार होने पर 'मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ' इन अनुभवों, से 'अहं' पद वाच्य इन्द्रियां ही आत्मा है। इनके मत में 'स वा एष' इत्यादि श्रुति तो मोटी दृष्टि से कहती है। अन्यथा प्रतिक्षण विनाशी देह द्वारा बाल्य में देखी हुई वस्तु का यौवन में स्मरण नहीं होना चाहिए था। मैं स्थूल हूँ, यह अनुभव भी इन्द्रिय और देह में एकता का अध्यास होने से हा है।

प्राणात्मवादीचार्वाक—का मत है कि—प्राणों के निकल जाने पर अथवा मरण काल में अन्न आदिके न मिलने से जब प्राण दुर्बल

होता है तब इन्द्रियों का चलना बन्द हो जाता है इस युक्ति, मैं प्यासा हूँ, मैं भूखा हूँ, इस अनुभव और 'अन्योऽन्तरः आत्मा प्राणमयः' इस श्रुति के अनुसार' 'अहं' पदका वाच्य प्राण है। इनके मत में 'ते ह प्राणाः—इत्यदि श्रुति में प्राण पद इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता के लिए कहा गया है। यदि ऐसा अर्थ न मानें तो 'जो मैं नेत्र से रूप निहारता हूँ, वही मैं त्वगिन्द्रिय से स्पर्श करता हूँ, यह अनुभव नहीं बनेगा। क्योंकि इन्द्रियों के अनेक होने से दर्शन और स्पर्शन क्रिया विभिन्न इन्द्रियों का कार्य है।

मन को आत्मा मानने वाला चार्वाक–कहता है कि 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इस श्रुति, मूर्च्छा आदि में मनके सो जाने से प्राण का विलय होना तथा मन के अधीन प्राणों की प्रवृत्ति होना रूप युक्तियों से, तथा 'मैं संकल्प करता हूँ' मैं विकल्प करता हूँ' इन अनुभवों से 'अहं' पदका वाच्य मन ही आत्मा है। इनके मत में एक देह में अनेक इन्द्रियां अथवा प्राण आत्मा नहीं है किन्तु एक मन ही आत्मा है।

योगाचार बौद्ध—का मत है कि 'अन्योऽन्तरः आत्मा विज्ञानमयः' इस श्रुति, मन की सत्ता का सुखज्ञान के करण के रूप में अनुमान किया जाना सर्वत्र कर्ता और करण में भेद भी सिद्ध होना, कर्ता के विना करण में शक्ति नहीं देखा जाना इन युक्तियों और 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इस रूप में करण से भिन्न कर्ता और भोक्ता के अनुभव से बुद्धि (क्षणिक-विज्ञान) आत्मा है।

प्राभाकर-गौतम-कणाद—का मत है कि—अन्योऽन्तरः आत्मा आनन्दमयः, इस श्रुति, सुषुप्तिकाल में बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और अदृष्टों के ज्ञान से भिन्न अतएव, अज्ञानरूप किन्तु ज्ञान के आश्रय आत्मा में लय होना इन युक्तियों से, तथा मैं अज्ञानी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ' इन अनुभवों से 'अहं' पद का वाच्य ज्ञान से अन्य अर्थात् अज्ञान ही आत्मा है।

यद्यपि प्राभाकरों तथा तार्किकोंने न तो आत्माको आनन्द रूप माना है और न तो ज्ञान रूप ही किन्तु सुख का आश्रय और ज्ञान का आश्रय ही माना है। एक में आधाराधेय भाव सम्बन्ध नहीं होता अतः ज्ञान से भिन्न अतएव अज्ञान ही आत्मा सिद्ध होता है। क्योंकि वेदान्तियों के मतमें अज्ञान का जो स्वरूप है वह प्राभाकरों तथा तार्किकों ने स्वीकारा नहीं है। तथापि इन लोगों ने आत्मा को चिद्रूप नहीं स्वीकारा है किन्तु ज्ञानाश्रय, स्वतः जड, और अनादि आत्मा माना है। जो वेदान्तियों के मत में 'सत्यं ज्ञानम्-' श्रुति के प्रतिकूल होने से अज्ञान रूप ही सिद्ध हो जाता है।

कुमारिलभट्ट—का मत है कि–सुषुप्ति वेला में 'मैं सुख से सो रहा था उस समय कुछ पता ही नहीं चल रहा था' यह अनुभव जाग्रत अवस्था में होता है। अतः सुषुप्ति काल के सुख का अनुभव करने वाला आत्मा बोधात्मक है। वह बोधांश प्रकाशक है। क्योंकि सुषुप्ति में इंद्रियों और मन का भी व्यापार नहीं रहता। अविद्या भी प्रकाशिका नही कहीं जा सकती। क्योंकि वह जड़ है। इस प्रकार सुषुप्ति में 'न किञ्चिदवेदिषम्' ज्ञान की उपपत्ति के लिए आत्मा को द्रव्यात्मक स्वीकारा जाता है। वह अप्रकाशक है। अतः सुषुप्ति में प्रकाश और अप्रकाश की सत्ता भी रहती है। 'अहं माम् न जानामि' इस अनुभव से भी यह सिद्ध होता है कि 'अहं' पद का वाच्य आत्मा रूप कर्ता है जो 'माम्' पद के वाच्य आत्मा को कर्म भी सिद्ध करता है। और एक ही आत्मा में 'अहं' पद से ज्ञानात्मकत्व तथा 'माम् न जानामि' अंश से अज्ञानात्मकत्व भी स्वीकार्य है। इस प्रकार अज्ञानोपहितचैतन्य आत्मा अहं पद का वाच्य सिद्ध होता है। श्रुति भी 'प्रज्ञान घन एव आनन्दमयः' कहती है।

माध्यमिकबौद्ध का—मत है कि—'असदेवेदमग्र आसीत्' इस श्रुति, सुषुप्ति में 'मैं नहीं था' इस प्रकार सोकर उठने पर अपने अभाव का परामर्श होने से आत्मा का द्रव्यात्मकत्व (अप्रकाशकत्व) एवं

बोधात्मकत्व (प्रकाशात्मकत्व) मानना उचित नहीं किंतु सर्वाभावरूप शून्यत्व ही आत्मा 'अहं' पद का वाच्य है।

पुत्रादीनामात्मत्वखण्डनम्

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते। एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव। किञ्च, प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्त्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः॥

एतेषां प्रत्यक्चैतन्यत्वेन वर्णितानां पुत्रादिशून्यपर्यन्तानामनात्मत्वमुच्यते। एतैः वादिभिः अतिप्राकृतादिभिः उक्तेषु श्रुति युक्त्य-नुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुति-युक्त्य-नुभावाभासानामुत्तरोत्तरश्रुति-युक्त्यनुभवाभासैरात्मत्ववाधदर्शनात् पुत्रादीनामनात्मत्वं सिद्धमेव। न च तर्हि 'अहम्' 'अहम्' इति प्रत्ययविषयः आत्मा कीदृश इति चेत् शृणु वक्ष्यमाणाः पुत्रादीनामात्मत्वसाधकबाधकप्रबलश्रुतयः। तत्र—

पुत्रादीनामात्मत्वसाधकश्रुतयः	तेषामात्मत्वबाधकप्रबलश्रुतयः।
१. आत्मा वै पुत्र नामासि।	१. (कश्चिद्धीरः) प्रत्यगात्मानमैच्छत्।
२. स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।	२. अस्थूलमणवह्रस्वमदीर्घम्।
३. ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः।	३. अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।

४. अन्येऽन्तरः आत्मा प्राणमयः । ४. अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः ।

५. अन्योऽन्तरः आत्मा मनोमयः । ५. अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता ।

६. अन्योऽन्तरः आत्मा विज्ञानमयः । ६. नचास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्

७. प्रज्ञानघन एव आनन्दमयः । ७. चिन्मात्रोऽहं सदा शिवः ।

८. असदेवेदमग्र आसीत् । ८. सदेव सौम्येदमग्र आसीत् ।

एभिः प्रत्यक्, अस्थूलः, अचक्षुः अप्राणः, अमनाः, अकर्ता, चैतन्यम्, चिन्मात्रम्, सत्, इत्यादिभिः प्रबलश्रुतिस्थितैः पदैः विरोधात् अस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य भास्यत्वेन (प्रकाश्यत्वेन) घटादिवद् अनित्यत्वात्, 'अहं ब्रह्म' इति विद्वदनुभवप्राबल्यात्, पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य अनात्मत्वस्य घटादिवत् अनित्यत्वं चैतन्यप्रकाश्यत्वस्य सिद्धेः । अतः पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य भासकं नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त-सत्यस्वभावं प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मा वस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः । स च स्वयं प्रकाशः । अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः, आत्मैवास्य ज्योतिः इत्यादिश्रुतयश्च स्वयं प्रकाशत्वे प्रमाणानि । एवमध्यारोपः वर्णितः ।

किंतु हम अब प्रत्येक चैतन्य रूप में वादियों द्वारा वर्णित पुत्र से लेकर शून्य तक आत्मा के स्वरूप का खण्डन करेंगे । क्योंकि इन वादियों ने जिन श्रुति, युक्ति और अनुभावाभासों से प्रथमवादी के श्रुति, युक्ति, अनुभवाभासों का बाध बताकर उनके द्वारा वर्णित आत्मा का अन्यथा स्वरूप बताया है उन्हीं से यह सिद्ध हो जाता है कि पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त कोई भी अहं पद वाच्य आत्मा नहीं है । और प्रत्यक्, अस्थूलः, अचक्षुः, अप्राणः, अमनाः, अकर्ता, चैतन्यम्, चिन्मात्रम्, सत् इत्यादि प्रबल श्रुतियों से सिद्ध होता है कि पुत्र से लेकर शून्य पर्यन्त जड़ है, चैतन्यभास्य है, घट आदि की भांति अनित्य है । फिर यह प्रश्न उठता है कि 'अहं ब्रह्म' इस प्रकार विद्वदनु

भूत आत्मा क्या वस्तु है, ठीक है। जब पुत्रादि से शून्य पर्यन्त में अनात्मत्व, अनित्यत्व, चैतन्यप्रकाश्यत्व सिद्ध हो गया। तब सिद्ध होता है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाव, प्रत्यक्चैतन्य ही आत्मा है और वह ही वस्तु है, वह स्वयं प्रकाश है। अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः, आत्मैवास्य स्वयं ज्योतिः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आत्मा स्वयं प्रकाश सिद्ध होता है अतः आत्मा का प्रकाशक अन्य प्रकाश मानने की आवश्यकता नहीं होती यह वेदांतियों का अनुभूत मत है।

विशेष—यहां स्वभावतः दो शंकायें उत्पन्न होती हैं।

(१) जो लोग वेद नहीं मानते अथवा वेद को प्रमाण नहीं मानते उन लोगों ने अपने पक्ष के समर्थन में वेद को प्रमाण रूप में क्यों उपस्थित किया ?

(२) जब वेद स्वयं प्रमाण है तब उसके द्वारा पुत्रादिकों का आत्मत्व कथन अप्रामाणिक कैसे कहा जा सकता है ?

प्रथम प्रश्न—पर तो हम कह सकते हैं कि अतिप्राकृतों, चार्वाकों, बौद्धों ने यद्यपि श्रुतियों का उपन्यास नहीं किया तथापि जिन सिद्धांतों का उन्होंने प्रतिपादन किया उनके पक्ष में श्रुतियां भी हैं। यदि हम उनके सिद्धांत को अप्रमाणिक कहेंगे तो वे उनके पक्ष का समर्थन करने वाली श्रुतियों को अप्रामाणिक सिद्ध करके तुष्ट होंगे।अतएव वेदान्तियों ने उनके सिद्धांत को पूर्वपक्ष बनाने की दृष्टि से श्रुतियों का उपन्यास किया तथा उन श्रुतियों का समन्वय भी किया ।

दूसरे प्रश्न—पर तो यह कहा जाता है कि कोई भी श्रुति अप्रमाण नहीं है। क्योंकि पुत्र को आत्मा कहने वाली श्रुति का भी तात्पर्य आत्म प्रतिपादन में ही है। हां, उनके द्वारा कथित पुत्र में आत्मत्व नहीं है क्योंकि वस्तु विवेचन के दो प्रकार होते है। एक तो स्थूल से सूक्ष्म का प्रतिपादन करना। दूसरा सूक्ष्म से स्थूल का प्रति-

पादन करना। प्रथम प्रकार में स्थूल असत्य को बताते तथा उनका खण्डन करते हुए सूक्ष्म तक जाना जाता है। जैसे स्थूलारुन्धतीन्याय से अरुन्धती का ज्ञान होता है। किसी को अरुन्धती का परिचय कराना है तो उससे बताया जाता है आकाश में तारे चमक रहे हैं इनमें अरुन्धती भी एक है। वह कौन है? इस जिज्ञासा के हो जाने पर 'उत्तर दिशा की ओर खाट की भांति चार तारे और नीचे की ओर तीन तारे हैं इनमें अरुन्धती है। 'वह कहां है' जब यह जिज्ञासा हुई तब नीचे की ओर लटकने वाले तारों को देखो। उन तीनों के मध्यम तारे को देखते रहो उसके नीचे एक छोटा सा चमकता हुआ तारा है वही अरुन्धती है। इस प्रकार अरुन्धती तारा का परिचय मिलता है। दूसरे प्रकार में वह छोटा तारा अरुन्धती है, प्रश्न हुआ कहां? यह, नहीं, वह, नहीं, फिर धीरे धीरे अरुन्धती का ज्ञान हो जाता है। इन दोनों प्रकारों में किसी भी प्रक्रिया में दोष नहीं है क्योंकि स्थूल के द्वारा भी सूक्ष्म का ज्ञान होता है। जैसे पेड़ के ऊपर शुक्र है। शुक्र सदा आकाश में रहता है पेड़ पर नहीं किंतु कहा जाता है तथा प्रामाणिक भी है क्योंकि सत्य शुक्र के ज्ञान में पेड़ सहायक है। इस प्रकार समस्त श्रुतियां स्थूल का प्रतिपादन करके सूक्ष्म की प्रतिपादक हैं अतः प्रमाण हैं।

अध्यारोप का विचार समाप्त हुआ।

अपवादः

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्—

'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥' इति।

तथाहि—एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदा-

यतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पंचीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादिविषयसहितानि पंचीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापंचीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपंचीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति ॥

कार्यस्य कारणमात्रसत्तावशेषणम् अपवादः, कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्तावधारणं वा अपवादः। यथा रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्, शुक्तिविवर्तस्य रजतस्य शुक्तिमात्रत्ववद् वा चैतन्यरूपवस्तुविवर्तस्य अवस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम् अपवाद इति भावः। तदुक्तम्।

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥ इति।

अयमर्थः—स्वरूपेणावस्थितस्य वस्तुनः मिथ्याप्रतीतिरूपोऽन्यथाभावो द्विधा भवति (१) विकारः (परिणामः) (२) विवर्तः च। तत्र परिणामो नाम वस्तुनः यथार्थतः स्वरूपं परित्यज्य रूपान्तरप्राप्तिः। यथा दुग्धस्य स्वरूपपरित्यागेन तत्त्वतः दध्याकारेण परिणमनम्। विवर्तो नाम वस्तुनः स्वस्वरूपापरित्यागेन अतत्त्वतः रूपान्तरप्राप्तिरिति। यथा रज्जुः स्वस्वरूपमपरित्यज्य सर्पाकारेण भासते। यथा वा शुक्तिः स्वस्वरूपापरित्यागेन रजतरूपेण भासते। तत्र नित्ये वस्तुनि परिणामस्यादर्शनात् जगत् ब्रह्मणः न परिणामः किन्तु विवर्त एव। अतएव कारणे ब्रह्मणि कार्यस्य भ्रमरूपस्य प्रतीतेरपसारणे कारणमात्रस्य शुद्धब्रह्मणः अवधारणम् अपवादः।

तथाहि-भोगायतनम् एतत् जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जं चतुर्विधं सकलस्थूलशरीरजातम्, भोग्यरूपम् एतदन्नपानादिकम्, आश्रयभूतम्

एतत् भूरादिचतुर्दशभुवनम्, एतदारभूतं ब्रह्माण्डम् च इदं सर्वं स्वकारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति।

एतानि सत्त्वरजस्तमोगुणसहितानि अपञ्चीकृतपञ्चभूतानि उत्पत्तिवैपरीत्येन स्वकारणभूतम् अज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं[1] भवति।

एतद् अज्ञानम् अज्ञानोपहितचैतन्यं च ईश्वरादिकम् एतस्य अज्ञानस्य अज्ञानोपहितचैतन्यस्य च आधारभूतं अनुपहितचैतन्यरूपम् (उपाधिशून्यचैतन्यरूपम्) तुरीयम् (चतुर्थं) ब्रह्ममात्रं भवति।

इति अपवादविचार:

कार्यसत्ता का कारणसत्ता मात्र में अवशेष करना अपवाद है। अथवा कारणस्वरूप से अतिरिक्त कार्य की सत्ता न मानना अपवाद है। जैसे—रस्सी के विवर्त सर्प की सत्ता न मान कर रस्सी की सत्ता का अवधारण, अथवा शुक्ति के विवर्त रजत की असत्ता का अवधारण अपवाद है। वैसे चैतन्य रूप वस्तु के विवर्त अवस्तु का (अज्ञान के प्रपंच का) वस्तु रूप में निर्धारण करना अपवाद है।

अपने स्वरूप में स्थित वस्तु का मिथ्या प्रतीति रूप अन्यथाभाव दो प्रकार से होता है। एक विकार (परिणाम) और दूसरा विवर्त। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर किसी अन्यरूप को ग्रहण कर लेती है तो उसे परिणाम कहते है। जैसे दूध का अपने वास्तविक स्वरूप का परित्याग कर दही के रूप में अन्यथाभाव परिणाम कहा जाता है। किसी वस्तु को अपने वास्तविक रूप का परित्याग बिना किये रूपान्तर की प्राप्ति करना विवर्त कहलाता है। जैसे रस्सी अपने स्वरूप में ही रहती है किंतु दोपवश वह सर्प के रूप में प्रतीत

---

(१) जगत्प्रतिष्ठिा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्वाप: प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले प्रविलीयते। (म० भा० शा० प० १२८ (९३-९५)
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागति। (कठ. ३।११)

होती है। अथवा जैसे शुक्ति अपने स्वरूप का परित्याग बिना किए भी रजत रूप में प्रतीत होती है। यही बात निम्नलिखित करिका से कहीं गई है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥

यह विवर्त और परिणाम अनित्य वस्तु में दोनों हो सकते हैं। किंतु नित्य वस्तु का परिणाम हो नहीं सकता अतः जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं किंतु विवर्त है। इसी लिए कारण ब्रह्म में कार्य जगत् की भ्रम रूप प्रतीति का अपसारण होता है।

जैसे—(जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज) ये चार प्रकार के समस्त स्थूलशरीर, जो भोगायतन है, इनके खाने और पीने की वस्तु जो भोग्यरूप है, इनके आश्रय भू आदि चतुर्दश भुवन, इनका आधार ब्राह्मण्ड ये सब अपने कारण रूप पंचीकृत पंचभूत मात्र हो जाते हैं। क्योंकि अपवाद द्वारा कार्य का कारण रूप में अवधारण होता है।

इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध नाम के विषयों सहित पंचीकृत पंचभूत, ' पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, बुद्धि और मन, तथा पांच वायु इस प्रकार) सत्रह अवयवों वाला सूक्ष्म शरीर ये सब अपने कारण भूत अपंचीकृत भूत मात्र होते हैं।

इसी प्रकार सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के सहित अपंचीकृत भूत उत्पत्ति क्रम के विपरीत अपना कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्यमात्र होते हैं।

इसी प्रकार अज्ञान और अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर आदि इनके आधारभूत अनुपहितचैतन्य ब्रह्म मात्र होते हैं।

अपवाद विचार समाप्त

तत्त्वंपदार्थशोधनप्रकारः

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि। अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहितालपज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।

इत्थमध्यारोपेण ब्रह्मणः जगतः उत्पत्तिम्, अपवादेन ब्रह्मणि लयं च ज्ञात्वा जगतः तत्कारणस्य ब्रह्मणश्च स्वरूपबोधानन्तरम् आभ्यामेव अध्यारोपापवादाभ्यां श्वेतकेतुं प्रति उक्तस्य 'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्यार्थबोधोऽपि जायते। स च तत्पद-त्वम्पदयोः परिशुद्धिद्वारा सम्भवति। वाक्यार्थ ज्ञानं प्रति पदार्थज्ञानस्य कारणत्वात्।

तथाहि-अज्ञान-स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरसमष्टिस्तदुपहितं चैतन्यम्, सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमीश्वरहिरण्यगर्भवैश्वानरचैतन्यम्, एतदनुपहितचैतन्यं च इति एतत् त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। अज्ञानाद्युपाध्युपहितस्येश्वरचैतन्यस्याधारभूतं यदनुपहितं शुद्धचैतन्यं विविक्तं सत् अवभासमानं 'तत्' पदलक्ष्यार्थो भवति।

एवम् अज्ञानादिव्यष्टिः, तदुपहितं अल्पज्ञत्वाविशिष्टं प्राज्ञतैजसविश्वचैतन्यम्, एतदनुपहितचैतन्यं च एतत्त्रयम् तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं 'त्वम्' पदवाच्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिः तदवच्छिन्नप्राज्ञादिचैतन्यं, तदाधारभूतं यदनुपहितं प्रत्यगानन्दं रूपं तुरीयं चैतन्यं तत् विविक्तं सत् 'त्वम्' पदस्य लक्ष्यार्थो भवति।

इत्थं तत्पदत्वंपदयोः प्रत्येकं वाच्यार्थरूपा लक्ष्यार्थरूपा चार्थद्वयी। तत्र अज्ञानादिसमष्टिः तदुपहितमीश्वरादिचैतन्यं तदनुपहितं चैतन्यं

चिन्मात्रम् एतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदविविक्तं तत्पदवाच्यार्थः। एतदाधारभूतमपि एतद्भिन्नं अनुपहितं चैतन्यं चिन्मात्रम् तत्पदलक्ष्यार्थः। एवं अज्ञानादिव्यष्टिः, तदुपहितं प्राज्ञादिचैतन्यं, तदनुपहितं चैतन्यं चिन्मात्रं एतत्त्रयम् तप्तायःपिण्डवदविविक्तं त्वम् पदवाच्यार्थः। अज्ञानादिव्यष्टिः, तदुपहितं प्राज्ञादिचैतन्यं एतदाधारभूतमपि एतद्भिन्नं अनुपहितं प्रत्यगानन्दं रूपं तुरीयं चैतन्यं त्वंपदलक्ष्यार्थः। एतेन अनुपहितं शुद्धचैतन्यं तत्पदत्वंपदयोर्लक्ष्यार्थः। तत्पदं त्वंपदं च लक्षणम् (लक्षकम्) इति भावः।

इस प्रकार अध्यारोप से जगत की ब्रह्मसे उत्पत्ति और अपवाद से जगत का ब्रह्ममें लय जानकर, तथा जगत् और जगत् के कारण ब्रह्म के स्वरूपबोध के बाद 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ का बोध भी होता है। उद्दालक ऋषिने श्वेतकेतु को ब्रह्मका स्वरूप बताने में 'तत्त्वमसि' वाक्यका उपदेश किया है। अतः इसे 'उपदेशवाक्य' कहा जाता है। इसका वाक्यार्थ बोध भी 'तत्' और 'त्वम्' पदकी परिशुद्धि से हो सकता है क्योंकि वाक्यार्थ बोधमें पदार्थबोधही कारण है। जैसे—अज्ञान, स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरकी समष्टि और तदुपहित चैतन्य एवं सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर चैतन्य तथा इनसे अनुपहित (शुद्ध) चैतन्य का तप्तायः पिण्ड के समान एक रूप में अवभासित होना तत्पदका वाच्यार्थ है। तथा अज्ञानावच्छिन्न ईश्वर चैतन्यका आधारभूत जो अनुपहित शुद्ध चैतन्यका अज्ञान और ईश्वर चैतन्य से विविक्त होकर अलग-अलग अवभासित होना तत्पदका लक्ष्यार्थ है।

इसी प्रकार अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीरों की व्यष्टि एवं प्राज्ञ, तैजस तथा विश्वचैतन्य और तदनुपहित चैतन्य इन तीनों का तप्तायः पिण्ड के समान अभेद विवक्षा में एक रूप से अवभासित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है तथा व्यष्टिभूत जो अज्ञान आदि एवं तदुपहित जीव चैतन्य तथा इनका आधारभूत जो अनुपहित प्रत्यगात्मकतुरीय

चैतन्य इन सबका भेद विवक्षा में अलग अलग प्रतीयमान होना 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है ।

इस प्रकार तत् और त्वं पदों में से प्रत्येक के दो-दो अर्थ हैं—एक वाच्यार्थ दूसरा लक्ष्यार्थ। अज्ञानसमष्टि तथा तदवच्छिन्न ईश्वर हिरण्यगर्भ और वैश्वानरचैतन्य तथा इनसे अनुपहित जो अक्षर, चिन्मात्र ये तीनों तप्तायः पिण्ड के समान एक ही हैं तथा तत् शब्द के वाच्यार्थ हैं। इस प्रकार अज्ञान (माया) की व्यष्टि, और उसके कारे रूप समस्त प्रपञ्च को सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान करनेवाली ईश्वरादि चैतन्य की आधारभूत जो चेतन एवं आनन्दस्वरूप अनुपहित चैतन्य वस्तु वह तत्पद का लक्ष्य अर्थ है। इसी प्रकार व्यष्टिभूत अज्ञान तथा तदवच्छिन्न अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जो तैजस एवं विश्वचैतन्य और इनका आधारभूत जो अनुपहित चैतन्य ये तीनों तप्तायः पिण्ड के समान एक ही हैं यह त्वं पद का वाच्य अर्थ है तथा अज्ञानादि उपाधियों से उपहित जो प्राज्ञ, तैजस और विश्व तथा इसका आधारभूत जो अनुपहित प्रत्यगानन्द तुरीय चैतन्य ये अलग हैं यह त्वं पद का लक्ष्य अर्थ है। इस प्रकार अनुपहित चैतन्य (शुद्ध चैतन्य) तत् और त्वम् इन दोनों पदों का लक्ष्य अर्थ है इसी कारण तत् और त्वम् ये दोनों लक्षण हैं और शुद्ध चैतन्य लक्ष्य है।

महावाक्यार्थः

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः, प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्—

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्' ॥इति॥

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद् यथा, 'सोऽयं देवदत्त' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिँश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणत्वात् पूर्वं पदार्थं निरूप्यानन्तरं उपदेशमहावाक्यार्थो वर्ण्यते। तत्र वाक्यं द्विविधं संसृष्टार्थम् अखण्डार्थञ्च। संसृष्टार्थम् संसर्गगोचरप्रमितिजनकम्। यथा 'गामानय' इति। अत्र पदयोः परस्परं यः वृत्तित्वादि सम्बन्धः सोऽपि शाब्दबोधे भासते। गोवृत्तिकर्मतानिरूपकमानयनम्। अखण्डार्थम्-संसर्गागोचरप्रमितिजनकम्। यथा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः। अत्र अस्मिन् नक्षत्रमण्डले कश्चन्द्रः इति प्रश्ने केवलं चन्द्रस्वरूपजिज्ञासा वर्तते। तन्निवृत्तये यः प्रकृष्टप्रकाशः स चन्द्रः इति उत्तरम्। तच्च केवलं जिज्ञासितं स्वरूपमेव बोधयति। नतु संसर्गम्। अन्यथा प्रश्नोत्तरयोः वैरूप्यं स्यात्। चन्द्रविषयके प्रश्ने सम्बन्धस्योत्तरत्वात्। यथा वा अयं कः इति प्रश्ने 'सोऽयं देवदत्तः' इत्युत्तरम् वाक्यमखण्डार्थम्। एवम् कोऽहम् इति प्रश्ने तत्त्वमसीत्युत्तरवाक्यमखण्डार्थम्।

ननु तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकः स शब्दः, एतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकः अयं शब्दः उभयोः कालभेदेन भिन्नत्वात् कथमखण्डैकार्थबोधकत्वम्। कथं वा परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्य, अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकस्य त्वम्पदस्य धर्मभेदेन भिन्नस्य एकस्मिन् चैतन्ये अखण्डार्थबोधकत्वमिति चेन्न, अयं तत्त्वमसीति वाक्ये न साक्षात् संकेतितस्यार्थस्य बोधः अपितु तात्पर्यानुपपत्तिमूलया लक्षणया सम्बन्धत्रयेण अखण्डार्थस्य बोधः।

सम्बन्धत्रयं नाम—१—पदयोः सामानाधिकरण्यम् २—पदयो-

विशेषणविशेष्यभावः ३—प्रत्यगात्मपदार्थयोस्तत्त्वंपदयोश्च लक्ष्यलक्षण-भावः। एतदेव नैष्कर्म्यसिद्धावुक्तम्—

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्। इति।

अयमर्थः—तत्र (१) सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावत्—भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकयोः[1] समानविभक्त्यन्तयोः पदयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यं सामानाधिकरण्यम्। यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये स इति पदस्य तत्कालतद्देशविशिष्टरूपे देवदत्तेऽर्थे प्रवृत्तिः, अयम् इति पदस्य एतत्कालैतद्देशविशिष्टे देवदत्तेऽर्थे प्रवृत्तिः। एवमुभयोः पदयोः भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वम्, उभयोः पदयोः प्रथमायाः एकवचनान्तत्वेन समानविभक्त्यन्तत्वम्। एवं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः समानविभक्त्यन्तयोः 'सोऽयम्' पदयोः देवदत्तरूपैकार्थव्यक्तिबोधने तात्पर्यसम्बन्धः (सामानाधिकरण्यम्)। तथैव—'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽपि परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टरूपे चैतन्येऽर्थे तत्पदस्य प्रवृत्तिः, अपरोक्षत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वविशिष्टरूपे चैतन्येऽर्थे त्वम्पदस्य प्रवृत्तिः। एतमुभयोः पदयोः भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वम्। तत्-त्वम्-पदयोः प्रथमायाः एकवचनान्तत्वेन समानविभक्त्यन्तत्वम्। इत्थं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः तत्पदत्वंपदयोः समानविभक्तिकयोश्च एकस्मिन् चैतन्यरूपेऽर्थे तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यम्।

वाक्यार्थ ज्ञान में पदार्थ ज्ञान कारण होता है। अतः अब तक 'तत्त्वमसि' वाक्य में प्रयुक्त 'तत्' और 'त्वम्' पदोंका अर्थ बताया गया अब आगे वाक्यार्थ निरूपण करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वाक्य दो प्रकार के होते हैं। एक संसृष्टार्थ दूसरा अखण्डार्थ। जिस यथार्थ ज्ञानमें संसर्ग की प्रतीति होती है उसे संसृष्टार्थ कहते हैं।

---

१. वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारकत्वम् प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्। यथा घटः इत्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तं घटत्वम्।

जैसे 'गामानय' पदों में जो परस्पर वृत्तिता आदि सम्बन्ध है, वे भी शाब्द-बोध में भासित होते हैं। जैसे 'गोवृत्तिकर्मतानिरूपक आनयन'। जिस यथार्थ ज्ञानमें संसर्ग की प्रतीति न होती हो उसे अखण्डार्थ कहते हैं। जैसे 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' 'नक्षत्र मण्डल में चन्द्र कौन है' इस प्रश्नका यही उत्तर है। यहाँ केवल चन्द्रमा के स्वरूप की जिज्ञासा है, उसकी निवृत्ति उक्त उत्तर से होती है। सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार 'यह कौन है' प्रश्नका उत्तर है 'यह वही देवदत्त है'। यह भी वाक्य अखण्डार्थ है। इसी प्रकार 'कोऽहं' प्रश्न का उत्तर तत्त्वमसि है और यह भी अखण्डार्थ है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि तत्कालिक देवदत्त स शब्दका अर्थ है और एतत् कालिक देवदत्त 'अयं' पदका अर्थ है। दोनों में काल भेदसे भिन्न होनेसे एक अखण्डार्थ बोध कैसे बन सकेगा। इसी प्रकार परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य वाचक तत् पदका तथा अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्यवाचक 'त्वम्' पद का जो धर्म भेदसे भिन्न हैं एक चैतन्य में अखण्डार्थ बोध नहीं हो सकता, किन्तु यह शङ्का ठीक नहीं क्यों कि 'तत्त्वमसि' वाक्य का सांक्षात् संकेतित अर्थ से अखण्डार्थ बोध नहीं होता किन्तु तात्पर्यानुपपत्ति मूलक लक्षणा के निम्नलिखित तीन सम्बन्धों से अखण्डार्थ बोध बनता है।

वे सम्बन्धत्रय हैं १—पदोंका सामानाधिकरण्य, २—पदों का विशेषण विशेष्यभाव, ३—पदों का लक्ष्यलक्षणभाव।

१—सामानाधिकरण्य—भिन्न-भिन्न अर्थ वाले और समान विभक्ति वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्य बोधकराने वाला सम्बन्ध सामानाधिकरण्य कहलाता है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' में तत् पदका तत्काल, तद्देश विशिष्ट रूप अर्थ है। तथा अयं शब्दका एतत् काल, एतत्देश विशिष्ट रूप अर्थ है। इस प्रकार दोनों पदों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं; दोनों पद प्रथमा के एकवचन होने के कारण समान विभक्ति

वाले हैं। इस प्रकार दोनों पदों का एक देवदत्त पिण्डरूप अर्थ बोध कराने में तात्पर्य है। इस सम्बन्ध का बोधक सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। अथवा जैसे—तत्त्वमसि वाक्यमें तत्पदका परोक्षत्व सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट रूप अर्थ है तथा त्वंपदका अपरोक्षत्व किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टरूप अर्थ है। इसप्रकार भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले प्रथमा के एक वचनान्त होने के कारण समान विभक्ति के दोनों पदों का एक ही चैतन्यरूप अर्थ के बोध कराने में तात्पर्य है। और यह तात्पर्य सम्बन्ध सामानाधिकरण्य है।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वंपदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्यान्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

(२) विशेषविशेष्यभावसम्बन्धः तु—यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये विशेषणविशेष्यभावस्य कामचारत्वात् यदा अयं पदवाच्यः यः एतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टः देवदत्तः सः सःपदवाच्यात् तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टदेवदत्ताद् भिन्नो नेति बोधो भवति तदा तत्पदार्थस्य अयंपदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वम्, अयंपदार्थस्य व्यावर्त्यत्वात् विशेष्यत्वम्। यतोहि व्यावर्तकम् विशेषणम्, व्यावर्त्यम् च विशेष्यम्। एवं यदा सःपदवाच्यः तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टः देवदत्तः, अयंपदवाच्यात् एतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टात् अस्मात् देवदत्तपदात् न भिद्यते इति प्रतीयते तदा अयंपदवाच्यस्य सःपदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वम्, तत्पदार्थस्य व्यावर्त्यत्वात् विशेष्यत्वम्। इत्थं परस्परभेदव्यावर्तकतया 'अयमेव सः' 'स एवायम्' इति रूपेण विशेषणविशेष्यभावः। तथा अत्र 'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽपि तत्त्वं पदयोः विशेषणविशेष्यभावस्य कामचारात्, यदा त्वंपदवाच्यं यत् अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यं तत् तत्पदवाच्यात् सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यात

अन्यत् न इति प्रतीतिः तदा त्वंपदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया तच्छब्दार्थस्य विशेषणत्वम्, त्वंपदार्थस्य च व्यावर्त्यत्वात् विशेष्यत्वम्। एवं यदा तत् पदवाच्यं यत् सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यं तत् त्वंपदवाच्यात् अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यात् भिन्नं न इति प्रतीयते तदा तत्पदार्थनिष्ठ-भेदव्यावर्तकतया त्वम्पदार्थस्य विशेषणत्वम्, व्यावर्त्यत्वात् तत्पदार्थस्य विशेष्यत्वम्। तथा च त्वमेव तदसि, तदेव त्वमसि इति तत्त्वं पदयोः परस्परं भेदव्यावर्तकत्वेन परस्परं विशेषणविशेष्याभावः।

२—विशेषणविशेष्यभाव—'जैसे सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में विशेषणविशेष्यभावमें इच्छा के नियामक होनेसे जब तत् पदको भेदव्यावर्तक होने के कारण विशेषण और अयं पद को विशेष्य मानते हैं तब इस काल और देश विशिष्ट देवदत्त तत्काल तद्देश से विशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है बोध होता है। इसी प्रकार जब तत्काल तद्देश से विशिष्ट देवदत्त इस काल और इस देशके देवदत्त से भिन्न नहीं है यह बोध होता हैं तव 'अयं' पद तत् पदके भेदव्यावर्तक होने से विशेषण और तत् पद विशेष्य होता है। इस प्रकार चाहे 'यह वही है' बोध हो चाहे 'वह यही है' बोध हो केवल विशेषण विशेष्य भावके उलटफेर से दो क्रम भले ही हो किन्तु एक देवदत्तपिण्ड की ही प्रतीति होती है।

यही क्रम 'तत्त्वमसि' वाक्यमें भी है। जब 'त्वंपद वाच्य अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य तत् पदवाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं बोध होगा तव त्वं पदार्थनिष्ठभेद का व्यावर्तक होने के कारण तत् पदार्थ विशेषण है और व्यावर्त्य होनेके कारण त्वं पदार्थ विशेष्य है। और जब 'तत् पद वाच्य' सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य त्वं पद वाच्य अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य से अन्य नहीं है। यह बोध होता है तब तत् पदार्थ से भेदका व्यावर्तक होने के कारण त्वं पदार्थ विशेषण है और व्यावर्त्य होने के कारण तत् पदार्थ विशेष्य है। इस प्रकार त्वमेव तदसि, तदेव त्वमसि इस प्रकार 'तत्त्वं' पदका परस्पर भेद व्यावर्तक होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध बनता है।

२. लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु—यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥

३. लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धस्तु— असाधारणधर्मप्रतिपादकं वचनं लक्षणम्, लक्षणेन प्रतिपाद्यं लक्ष्यम् तयोः यः सम्बन्धः सः लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धः। अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते। अभिधेयस्य अविनाभूते असाधारणधर्मे प्रवृत्तिः लक्षणा इति तदर्थः। शक्यसम्बन्धो वा लक्षणा। साच लक्षणा त्रिविधा। जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था, जहदजहत्स्वार्था च। तत्र वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरे वृत्तिः जहल्लक्षणा। यथा गङ्गायां घोषः। वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि वृत्तिः अजहल्लक्षणा। यथा शोणो धावति। वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिः जहदजहल्लक्षणा। यथा सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये एव तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टदेवदत्तैतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टयोःदेवदत्तयोः विशेषणांशेन परस्परविरुद्धयोः अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेति मते सोऽयं पदयोः, शक्यसम्बन्धो लक्षणेति मते सोऽयं पदार्थयोः वा विरुद्धांशस्य परित्यागेन अविरुद्धांशेन देवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः सम्बन्धः। अत्र सोऽयं पदयोर्लक्षकत्वं देवदत्तस्य च लक्ष्यत्वम्। तथा 'तत्त्वमसि' अत्रापि वाक्ये परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्योः विशषणांशेन परस्परविरुद्धयोः अभिधेयाविभाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणेति मते तत्त्वंपदयोः, शक्यसम्बन्धो लक्षणा इति मते तत्त्वंपदार्थयोः वा विरुद्धांशस्य परोक्षत्वादिविशिष्टत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वस्य परित्यागेन अविरुद्धेन चैतन्यांशेन सह लक्ष्यलक्षणभावः सम्बन्धः। अत्र तत्त्वं पदयोः पदार्थयोर्वा लक्षणत्वम् अखण्डचैतन्यस्य च लक्ष्यत्वम्। इत्थमत्र वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तित्वात् भागलक्षणा इति जहदजहल्लक्षणा इति वा उच्यते।

३—लक्ष्यलक्षणभावः—असाधारण धर्म प्रतिपादक वचन को लक्षण कहते हैं। जो लक्षण से प्रतिपाद्य हो वह लक्ष्य कहा जाता है। इनके सम्बन्धको लक्ष्यलक्षणभाव कहा जाता है। अभिधेय की अविनाभूत प्रवृत्ति को लक्षणा कहते हैं। शक्य सम्बन्ध को भी लक्षणा कहते हैं। वह लक्षणा तीन प्रकार की १—जहत् स्वार्था २—अजहत् स्वार्था, ३—जहदजहत्स्वार्था। वाक्यार्थ को पूर्ण रूप से त्याग कर तत्सम्बन्धी अर्थान्तर वृत्ति को जहल्लाक्षणा कहते हैं। जैसे 'गंगायां घोषः'। वाच्यार्थ का परित्याग विना किए तत् सम्बन्धी में वृत्ति होने को अजहत्लक्षणा कहते हैं। जैसे 'शोणो धावति'। वाक्यार्थके एक देशका परित्यागकर दूसरे एक देश में वृत्ति को जहदजहल्लक्षणा कहते हैं। जैसे सोयं देवदत्तः' यहाँ पर तत्काल, तद्देशविशिष्ट तथा एतत् काल एतदेशविशिष्टरूपविरुद्ध अर्थ के परित्याग द्वारा 'अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्ति लक्षणा' मतके अनुसार 'सोऽयं' पदों, तथा शक्यसम्बन्धो लक्षणा मत के अनुसार 'सोयं' पदार्थों में विरुद्धांश का परित्याग करके अविरुद्ध अंशों का देवदत्त के साथ लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध होता है। यहाँ सोऽयं पद लक्षक है तथा देवदत्त पद लक्ष्य है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी तत् पदका परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य त्वं पदका अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य अर्थ होने से विशेषणांश के परस्पर विरुद्ध होने के कारण उनका परित्याग कर देनेसे एकपक्ष में 'तत्' और 'त्वं' पदों के दूसरे पक्षमें तत और त्वं पदार्थों के विरुद्धांशों का परित्याग कर देने पर अविरुद्ध चैतन्य अंश के साथ लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार तत् और त्वं पद अथवा पदार्थ लक्षक है तथा अखण्ड चैतन्य लक्ष्य है। इसे ही भागलक्षणा भी कहते हैं।

अत्र संसर्गबोधखण्डनम्

अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च

शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते, अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥

ननु यथा नीलोत्पलम् इति वाक्ये कर्मधारयसमासे सामानाधिकरण्योपपत्तये नीलपदार्थस्य नीलगुणस्य उत्पलपदार्थस्य उत्पलद्रव्यस्य परस्परं भिन्नस्य शौक्ल्यादिभेदव्यावर्तकतया नीलपदस्य पटादिद्रव्यव्यावर्तकतया उत्पलद्रव्यस्य च परस्परं विशेषणविशेष्यभावः संसर्गः स्वीक्रियते, अथवा नीलपदस्य नीलगुणविशिष्टोऽर्थः उत्पलपदस्य च उत्पलद्रव्यमर्थः एवं नीलोत्पलपदार्थयोः तादात्म्येनैक्यात् प्रमाणान्तरविरोधाभावाच्च वाक्यार्थोऽङ्गीक्रियते। न हि भवति लक्षणाया अवकाशः। तथैव विनैव लक्षणां 'तत्त्वमसि' इत्यत्र तदर्थपरोक्षादिविशिष्टचैतन्यस्य, त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया परस्परं विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्य, तदेवत्वमिति तदैक्यस्य वा वाक्यार्थाङ्गीकारेणैवोपपत्तौ तत्त्वमसीति वाक्ये लक्षणाङ्गीकारो व्यर्थ एवेत आह अस्मिन्निति—अस्मिन् तत्त्वमसीति वाक्ये नीलोत्पलम् इत्यत्र इव वाक्यार्थो न संगच्छते। यतोहि नीलोत्पलम् इत्यत्र उक्तरीत्या विशेषणविशेष्यभावस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे नास्ति दोषः, नापि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधः। 'तत्त्वमसि' इत्यत्र तु यत् सामानाधिकरण्यं श्रूयते तन्न संगच्छेत यतोहि तत्त्वंपदार्थयोः न गुणगुणिभावः उभयोः द्रव्यत्वात्, न कार्यकारणभावः नित्यत्वाद विकारित्वच्च,

न अंशांशिभावः निरवयवत्वात्, न क्रियाक्रियावद्भावः निष्क्रियत्वात्, न जातिव्यक्तिभावः उभयोः द्रव्यत्वात्, अत एव न विशेषणविशेष्यभावः।

एवमिदं तत्त्वमसीति वाक्यं न त्वमिन्द्रोसीतिवत् स्तुतिपरं अभ्यासवैयर्थ्यात्। नहि स्तुतिः परिचोदनापूर्वकं क्वचिदभ्यस्यते। नापि अर्थवादः अनन्यशेषत्वात्, न राजपुरुषे 'राजायमिति' वत् औपचारिकोऽभेदः भेदस्यैव प्रामाणिकत्वासिद्धेः। नापि विपर्ययः, संशयो वा, श्रुतेः स्वतः प्रामाण्यात्। एवं तत्त्वंपदयोः यत् सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं तदेवाल्पज्ञत्वादिविशिष्टमिति वा वाक्यार्थः प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात् न संगच्छते। तस्मात् तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डर्थत्वमेव स्वीकार्यम्। तदुक्तम् पञ्चदश्याम्—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥

अयम्भावः— अत्र तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थे यत् सामानाधिकरण्यं प्रतीयते स न विशेषणविशेष्यभावादिसंसर्गेण, न वा विशिष्टेन तदैक्येन प्रत्यक्षादिविरोधात्। किन्तु अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थः विदुषां मतः।

कुछ लोगों का मत है कि जैसे 'नीलोत्पलम्' वाक्य में कर्मधारय समास होने पर सामानाधिकरण्य के लिए नील पदार्थ नीलगुण और उत्पलपदार्थ कमलद्रव्य है। दोनों परस्पर भिन्न हैं। अतः शुक्ल आदि गुणों के भेद व्यावर्तक होने से नील पदका और पटादि द्रव्य व्यावर्तक उत्पल द्रव्य का परस्पर विशेष्यविशेषणभाव माना जाता है। अथवा नीलपद का नीलगुण विशिष्ट अर्थ और उत्पल पद का उत्पल द्रव्य अर्थ माना जाय और इसी प्रकार नील और उत्पल पदार्थों का तादात्म्य सम्बन्धसे एक होने तथा ज्ञानान्तर के विरोध न होने से वाक्यार्थ माना जाता है। इस क्रम में लक्षणा भी नहीं करनी पड़ती। वैसे 'तत्त्वमसि वाक्य में भी परस्पर भेद का व्यावर्तक होने

के कारण परस्पर विशेषणविशेष्यभाव संसर्ग मानना चाहिए तथा 'तुम उससे अभिन्न हो' अथवा 'वही तुम हो' इस प्रकार का वाक्यार्थ मान लेने से कार्य बन जाता है फिर तत्त्वमसि में लक्षणा मानना व्यर्थ है। किन्तु यह मत ठीक नहीं। क्योंकि तत्त्वमसि वाक्य में नीलोत्पलम् की भांति वाक्यार्थ नहीं बन सकेगा। यतः नीलोत्पलम् में पूर्वोक्त रीति से विशेषणविशेष्यभाव अथवा तदैक्यरूप वाक्यार्थ मानने से कोई हानि नहीं है और न तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध ही है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में जो सामानाधिकरण्य प्रतीत हो रहा है वह प्रतीत नहीं होगा। यत: तत् और त्व पदार्थों में गुण और गुणी भाव नहीं है क्योंकि दोनों द्रव्य हैं, कार्यकारणभावभी नहीं है क्योंकि दोनों नित्य तथा अविकारी हैं, अंशांशिभावभी नहीं है क्योंकि निर-वयव है, क्रिया-क्रियावद्भाव भी नहीं है क्योंकि निष्क्रिय हैं, जाति-व्यक्तिभाव भी नहीं है क्योंकि दोनों द्रव्य हैं इसीलिए विशेषण-विशेष्यभाव भी नहीं है।

इसी प्रकार तत्त्वमसि यह वाक्य स्तुति नहीं है क्योंकि स्तुति का कहीं अभ्यास नहीं होता। अर्थवाद नहीं क्योंकि किसी के लिए नहीं है, औपचारिक अभेद नहीं है क्योंकि भेद सिद्ध नहीं है। विपर्यय भी नहीं है क्योंकि श्रुतियाँ स्वतः प्रमाण होती हैं। अभेद भी नहीं हो सकता क्योंकि अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व का प्रत्यक्षतः विरोध है। अतः तत्त्वमसि वाक्य का अखण्डार्थ मानना ही उचित है। यहीं निष्कर्ष पंचदशी में संसर्गो वा · · ·, विदुषां मतः 'कारिका में वर्णित है।

अत्र जहल्लक्षणाखण्डनम्

अत्र 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसतो' ति वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थ-स्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीर-लक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा संगच्छते। अत्र तु परोक्षापरोक्ष-चैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि

परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न संगच्छते। न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वंपदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्॥

ननु यथा 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इति वाक्ये भगीरथरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहरूपस्य गङ्गापदार्थस्य, आभीरपल्लीरूपस्य घोषपदार्थस्य आधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्य नतु अंशतः किन्तु अशेषतः विरुद्धत्वात् अशेषं स्वार्थं (मुख्यार्थं) परित्यज्य लक्षणया वृत्या तत्सम्बन्धिनि तीरे घोषावस्थानप्रतिपादनात् जहत्स्वार्था लक्षणाङ्गीक्रियते। तथैव तत्त्वमसि इति वाक्येऽपि परोक्षचैतन्यरूपस्य तत्पदार्थस्य, अपरोक्षचैतन्यरूपस्य त्वं पदार्थस्य च एकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधेऽपि विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावस्य सत्त्वात्, अशेषतः विरुद्धत्वेन वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्पदस्य जीवचैतन्ये अथवा त्वंपदस्य ईश्वरचैतन्ये लक्षणया जहत्स्वर्था लक्षणैव युक्तेति चेन्न, परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः भागमात्रे विरोधात् चैतन्यैकत्वरूपं भागान्तरमपि परित्यज्य अन्यलक्षणाया अयुक्तत्वात्। न च यथा गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं लक्षयति तथा तत्पदं त्वंपदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयतु तर्हि जहल्लक्षणा सङ्गच्छत एवेति वाच्यम्, श्रुतवाक्यस्य मुख्यार्थबाधे मुख्यार्थसम्बन्धिनि अश्रुतपदार्थे लक्षणा इति सिद्धान्तात्, यथा गङ्गायां घोषः इत्यत्र आधाराधेयभावरूपमुख्यार्थस्य बाधे मुख्यार्थगङ्गाप्रवाहसम्बन्धिनि अश्रुतपदार्थे तीरे लक्षणा भवति तथा तत्त्वमसि इत्यत्र अभावात्। तथाहि—इह श्रूयमाणयोः तत्त्वंपदयोर्मुख्यतयैव स्वार्थप्रतीतौ लक्षणया तत्पदेन त्वंपदार्थस्य त्वम्पदेन तत्पदार्थस्य प्रतीतेरनपेक्षितत्वात् च मुख्या-

र्थबाधाभावे लक्षणाया अन्याय्यत्वात् जहत्स्वार्थाया लक्षणाया असम्भवात् ।

कुछ लोगों का मत है कि जैसे 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इस वाक्य में गङ्गापदार्थ का घोष पदार्थ के साथ आधाराधेयभाव सम्बन्ध का अंशतः नहीं किन्तु अशेषत: विरुद्ध होनेसे अशेषस्वार्थ का परित्याग कर लक्षणा वृत्तिसे गङ्गासम्बन्धी तीरमें घोषकी स्थिति बनती है और जहत्स्वार्था लक्षणा मानते हैं वैसे तत्त्वमसि वाक्यमें परोक्षचैतन्य रूप तत्पदार्थ का अपरोक्षचैतन्यरूप त्वंपदार्थ के साथ एकत्वरूप वाक्यार्थ भागमात्र के विरोध होने पर भी विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव होने से अशेषत: विरुद्ध माना जायगा तथा अशेषतः वाक्यार्थ का परित्याग कर तत् पदका जीवचैतन्य में अथवा त्वं पदकी ईश्वरचैतन्य में जहत्स्वार्था लक्षणा से ही कार्य निर्वाह होगा भागलक्षणा मानना व्यर्थ है। किन्तु यह मत ठीक नहीं क्योंकि श्रुतवाक्य के मुख्यार्थ का बाध होने पर मुख्यार्थ से सम्बद्ध अश्रुत पदार्थ में लक्षणा होती है, इस सिद्धान्त के अनुसार जैसे 'गङ्गायां घोषः' में आधाराधेयभावरूप मुख्यार्थ के बाध होने पर मुख्यार्थ = गङ्गा प्रवाह से सम्बद्ध अश्रुत पदार्थ तीरमें लक्षणा होती है। वैसे 'तत्त्वमसि' में लक्षणा नहीं हो सकती। क्योंकि यहाँ तत् पद और त्वं पद के मुख्यस्वार्थ की प्रतीति होती है तत्पदसे त्वं पदार्थ तथा त्वं पदसे तत् पदार्थकी प्रतीति अपेक्षित नहीं है। अतः जहत्स्वार्था लक्षणा मानना सम्भव नहीं है।

अत्र अजहल्लक्षणाखण्डनम्

अत्र 'शोणो धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न

सम्भवत्येव । न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम् । एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ॥

ननु यथा शोणो धावति इति वाक्ये शोणगुणस्य धावनासम्भवात् मुख्यार्थबाधे सति शोणपदस्य स्वार्थपरित्यागेन शोणगुणाश्रये अश्वादौ अजहत्स्वार्थलक्षणया मुख्यार्थबाधः वार्यते तथा तत्त्वमसि इत्यत्रापि परोक्षत्वविशिष्टचैतन्यस्य तत् पदार्थस्य, अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम् पदार्थस्य परस्परविरुद्धत्वात् तदैकत्वस्य वाक्यार्थस्यापि असम्भवात् तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य (परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यावबोधकतत्शब्देन अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यावबोधकत्वंशब्देन परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यस्य) लक्षणया बोधे मुख्यार्थबाधवारणसम्भवे भागलक्षणा न स्वीकर्तव्येति चेन्न, शोणो धावति इत्यत्र अजहल्लक्षणया विरोधपरिहारेण कार्यनिर्वाहेऽपि तत्त्वमसि इति वाक्ये यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि परोक्षत्वापरोक्षत्वादिरूपस्य विरोधस्य परिहारासम्भवेन अजहत्स्वार्थलक्षणाया अनुपयोगात् ।

नच तत्पदं स्वार्थविरुद्धांशस्य परोक्षत्वस्य परित्यागेन अविरुद्धं चैतन्यांशापरित्यागेन त्वम्पदार्थं किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टं जीवचैतन्यं लक्षयतु, अथवा त्वम्पदमेव स्वार्थमपरोक्षत्वादिविरुद्धधर्मं परित्यज्य अविरुद्धचैतन्यांशापरित्यागेन तत्पदार्थं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमीश्वरचैतन्यं लक्षयतु किं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाभेदाङ्गीकारेणेति वाच्यम्, एकेन तत्पदेन त्वंपदेन वा स्वार्थांशस्य चैतन्यस्य पदार्थान्तरस्य च लक्षकत्वेन उभयलक्षणाया असम्भवात् । न च यथा शोणो धावति इति वाक्ये शोणपदं स्वार्थं शोणगुणं, पदार्थान्तरमश्वादि लक्षणया उभयमुपस्थापयति तथैव तत्त्वम् पदादेरपि स्वार्थांशस्य पदार्थान्तरस्य लक्षणया

उभयलक्षकत्वे बाधकं नास्तीति वाच्यम्, पदान्तरेण लक्षणां विनैव तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनः अन्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात् ।

यह कहना भी ठीक नहीं कि 'जैसे शोणो धावति' वाक्यमें शोण गुणमें धावन क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि गुण निष्क्रिय होता है इसलिए शोण पदका मुख्यार्थ बाध होने के कारण शोणगुण के आश्रय द्रव्य (अश्व) आदि में अजहत्स्वार्थालक्षणा होती है तथा गुण और क्रिया के आश्रय द्रव्यरूप अश्वमें धावन क्रिया के हो सकने से लक्ष्यार्थ बोध होता है। वैसे 'तत्त्वमसि' वाक्यमें भी परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्यरूप तत् पदार्थ से अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप त्वं पदार्थ की एकता के विरुद्ध होने के कारण एकत्व रूप वाक्यार्थ बन नहीं सकेगा। यदि मुख्यार्थ का परित्याग बिना किये परोक्षत्वादि विशिष्ट ईश्वर चैतन्य बोधक तत् शब्दसे अपरोक्षत्वादि विशिष्ट जीव चैतन्यका अथवा अपरोक्षत्वादिविशिष्ट जीव चैतन्य बोधक त्वं शब्दसे परोक्षत्वादि विशिष्ट ईश्वर चैतन्य का लक्षणा से बोध हो जाने से मुख्यार्थबाध दूर हो तब भी परोक्षत्व और अपरोक्षत्व रूपी विरोध का परिहार न हो सकने के कारण अजहत् स्वार्था लक्षणा का उपयोग नहीं हो सकता।

कुछ लोगों का मत है कि, तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ के विरुद्ध परोक्षत्व और अपरोक्षत्व अंश का परित्याग करके अविरुद्ध चैतन्यांश में लक्षणा द्वारा बोध होने में कोई आपत्ति नहीं हैं, किन्तु यह मत भी ठीक नहीं। क्योंकि एक पदसे स्वार्थांश और पदार्थान्तर की लक्षणा नहीं हो सकती। यतः एकपदमें दो लक्षणा नही मानी गई है। यहां यह कहना कि 'जैसे शोण पद शोणगुण तथा पदार्थान्तर अश्वका इस प्रकार दो अर्थों का लक्षणया बोधक होता है वैसे 'तत्त्वं' पद भी दो अर्थो के बोधक हो सकते हैं ठीक नहीं क्योंकि दोनों पदों से मुख्य रूपमें ही सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्वादि अर्थों की प्रतीति होती है फिर मुख्यार्थ बाध न होने से लक्षणा होगी ही नहीं।

अत्र भागलक्षणासमर्थनम्

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्काले-तत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्क लै-तत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्वमसी' ति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैत-न्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वा-दिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति॥

यतः तत्त्वमसीति वाक्ये न शक्त्या, नापि जहत्स्वार्थया अजह-त्स्वार्थया वा लक्षणया वाक्यार्थबोधः सम्भवति अतः यथा सोऽयं देवदत्तः इति सोऽयंरूपं वाक्यं वाक्यार्थो वा तत्कालतद्देशविशिष्टदेवदत्त-रूपे एतद्कालैतद्देशविशिष्टदेवदत्तरूपे सोऽयं इति वाक्यस्यअर्थांशे तत्कालैतत्कालविशिष्टभागे विरोधदर्शनात् विरुद्धस्य तत्कालैतत्का-लविशिष्टत्वांशस्य परित्यागेन अविरूद्धं देवदत्तांशमात्रं (देवदत्तस्वरूपमात्रं) लक्षयति। तथैव तत्त्वमसि इति वाक्यं वाक्यार्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वा-दिविशिष्टचैतन्यैकत्वरूपस्य वाक्यार्थस्य अंशे परोक्षत्वापरोक्षत्वांशे विरु-द्धत्वात् तदंशं परित्यज्य अविरुद्धमखण्डचैतन्यांशमात्रं लक्षयति। इयमेव भागलक्षणा इत्युच्यते। इत्थं महावाक्यार्थः वर्णितः।

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में न शक्ति, न जहत्स्वार्था लक्षणा, न अजहत्स्वार्था लक्षणा से ही वाक्यार्थ बोध हो सकता है फिर जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य अथवा तत्कालतद्देशविशिष्ट देवदत्त रूप तत् पदार्थ तथा एतत् काल एतद् देशविशिष्ट देवदत्त रूप अयं पदार्थ के अर्थांश तत्काल और एतत् काल में ही विरोध है। अतः विरुद्ध अंशका परित्याग करके अविरुद्ध अंश देवदत्त मात्र का लाक्षणिक बोध होता है वैसे तत्त्वमसि वाक्य या वाक्यार्थ परोक्षत्व, और अपरोक्षत्व अंशमें विरुद्ध है अतः उतने अंशका त्याग करके अविरुद्ध अखण्ड-चैतन्यांश मात्र में लक्षणा होती है। इसे ही भागत्यागलक्षणा, भाग लक्षणा और जहदजहत्लक्षणा भी कहते है।

अनुभववाक्यार्थः

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्मविषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत् स्वोपाधिभूताखंडचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति॥

उपदेशवाक्यार्थनिरूपणानन्तरम् अनुभवस्य ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मकस्य प्रतिपादकं यद् वाक्यं 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारकं तस्यार्थः वर्ण्यते।

एवम् आचार्येण अध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा अधिकारिणं तत्त्वमसीति वाक्येन अखण्डार्थचैतन्ये अवबोधिते सति अधिकारिणः 'अहं देहाद्यहंकारान्तसकलदृश्यजडपदार्थविलक्षणः नित्यः, अविद्यादिदोषरहितोऽतः शुद्धः, स्वयंप्रकाशत्वेन बुद्धः, सर्वोपाधिरहितोऽतः मुक्तः, अविनाशित्वेन सत्यः, वैषयिकानन्दस्य कर्मजन्यत्वेन सातिशयत्वेन क्षयित्वेन च तुच्छत्वात् निरतिशयानन्दादिरूपत्वेन परमानन्दः, देशतः कालतः वस्तुतश्च परिच्छेदरहितोऽतः अनन्तः' अद्वयं ब्रह्मास्मीति' अखण्डाकाराकारिता अखण्डाकारगोचरा साक्षात्कार तत्त्वज्ञानरूपा चित्तवृत्तिरुदेति। यया स्वात्मानन्दमनुभवति इति भावः।

न च चित्तवृत्तेः जडत्वात् सा शुद्धब्रह्मविषयिणी भवितुं नार्हतीति किं तस्याः स्वीकारेणेति वाच्यम्, सा चित्तवृत्तिस्तु न शुद्धब्रह्मविषयिणी

किन्तु अज्ञानविशिष्टप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मविषयिणी। सा च चैतन्यप्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यक्चैतन्यगतमखिलमज्ञानमेव बाधते इति तस्याः चैतन्यावरकाज्ञाननिवृत्तेरेव प्रयोजनत्वात्।

न चाखण्डचैतन्याकारगोचरया चित्तवृत्या तदाश्रितस्य अज्ञानस्य नाशेऽपि तत्कार्यस्य प्रपञ्चभूतस्य जगतः प्रत्यक्षतया भासमानत्वात् अहम् अद्वयं ब्रह्मास्मीति अद्वैतानुभवो न स्यादिति वाच्यम् चैतन्यगताज्ञाननिवृत्तौ पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवत् अखिलस्य सचराचरस्य प्रपञ्चभूतस्य कार्यस्य कारणरूपे अज्ञाने बाधिते तत्कार्यस्याखिलस्य प्रपञ्चस्य बाधितत्वात्।

नच अज्ञानरूपस्य कारणस्य नाशे कार्यस्य प्रपञ्चस्य नाशेऽपि अखंडाकारायाः चित्तवृत्तेः निवृत्तौ अद्वैतानुभवो न स्यादेवेति वाच्यम्, अखण्डाकारचित्तवृत्तेरपि अज्ञानतत्प्रपञ्चान्तर्गतकार्यभूततया कारणभूताज्ञाननाशे कार्यभूतायास्तस्या नाशात् अद्वैतसिद्धेः।

न च सप्रपञ्चस्याज्ञानस्य तदन्तर्गतायाश्चित्तवृत्तेरपि बाधे चित्तवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्याभासस्य सत्वात् कथमद्वैतसिद्धिरिति वाच्यम्, यथा दीपप्रभा आदित्यप्रभायाः प्रकाशनासमर्था सती आदित्यप्रभया अभिभूता च भवति तथा वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यमपि स्वयंप्रकाशमानस्य प्रत्यगभिन्नपरब्रह्मणः अवभासनासमर्थतया तेनाभिभूतं सत् स्वोपाधिभूताया अखंडाकारचित्तवृत्तेर्बाधितत्वात् चैतन्यमात्रतया अवशिष्यते। यथा दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्याभावात् मुखमात्रमवशिष्यते।

उपदेश वाक्यार्थ निरूपण के पश्चात् अनुभव वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' के अर्थ का विवेचन करते हैं।

पूर्वोक्त अध्यारोप और अपवाद न्याय के अनुसार तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ का शोधन करके 'तत्वमसि' वाक्य के अखण्डार्थ चैतन्य का अधिकारी को बोध हो जाने पर 'मैं देहाहंकार से लेकर सकल जडपदार्थ से विलक्षण नित्य, अविद्या आदि दोषों से रहित अतः शुद्ध,

स्वयं प्रकाश होने से बुद्ध, समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त होने से मुक्त, विनाशी न होने से सत्य, विषयानन्द कर्मजन्य है, छोटा, बड़ा यह, क्षयी होने से तुच्छ हैं अतः निरतिशय आनन्द रूप होने से परमानन्द, देश, काल तथा वस्तु रूपमें परिच्छेद न होने से अनन्त, सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य होने से अद्वय ब्रह्म मैं ही हूँ, इस प्रकार अखण्डाकाराकारित तत्वज्ञान साक्षात्कार रूपा चित्तवृत्ति का उदय होता है।

यहां यह शङ्का होती है कि चित्तवृत्ति तो जड है वह शुद्ध ब्रह्म को विषय नहीं बना सकती तब चित्तवृत्ति मानने से कोई लाभ नहीं है। ठीक है, किन्तु यह चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म विषयक नहीं होती किन्तु अज्ञान विशिष्ट प्रत्यगभिन्न विषयक होती है। वह चैतन्य के प्रतिबिम्ब को लेकर प्रत्यक् चैतन्यगत अखिल अज्ञान को बांधती हैं इस प्रकार चैतन्य को आवृत करने वाले अज्ञान की निवृत्तिके लिए चित्तवृत्ति का मानना अत्यन्त आवश्यक है।

यहां यह शङ्का होती है कि अखण्ड चैतन्य का प्रत्यक्ष करने वाली चित्तवृत्ति पर आश्रित अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी अज्ञान का कार्य सकलचराचर प्रपञ्चभूत जगत तो प्रत्यक्ष भासित होता है फिर मैं अद्वयब्रह्म हूँ, यह अनुभव होगा ही नहीं। ठीक नहीं, क्योंकि जैसे पटके कारण तन्तुके भस्म हो जाने पर तन्तु के कार्य पटका भी दाह हो जाना देखा जाता है वैसे चैतन्यगत अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अखिल चराचर रूप में कारणरूप अज्ञान का बाध हो जाने से अज्ञानके कार्य प्रपञ्चका भी बाध हो जाता।

यदि कहा जाय कि अज्ञान रूप कारण के कार्य चराचर प्रपञ्च के नाश हो जाने पर भी अखण्डाकार चित्तवृत्ति तो निवृत्ति होगी नहीं फिर अद्वैतानुभव नहीं बन सकेगा किन्तु यह ठीक नहीं, क्यों कि अखण्डाकार चित्तवृत्ति भी अज्ञान अथवा अज्ञान के कार्य प्रपञ्चों के

ही अन्तर्गत है तब तो कारणभूत अज्ञान के नाश हो जाने पर कार्यभूत चित्तवृत्ति का भी नाश हो जाता है तथा अद्वैत की सिद्धि होती है।

यदि कहा जाय कि 'प्रपञ्चों के सहित अज्ञान और अज्ञान के अन्तर्गत चित्तवृत्ति के वाध होने पर भी चित्तवृत्ति प्रतिविम्वाभास के रहने से अद्वैत की सिद्धि नहीं होगी' तो यह मत भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे दीप की प्रभा सूर्य प्रभा को प्रकाशित नहीं करती किन्तु आदित्य प्रभा से स्वयं भी अभिभूत रहती है अर्थात् अलग रूप में प्रतीत नहीं होती वैसे चित्तवृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य भी स्वयं प्रकाश प्रत्यग-भिन्न परब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकेगा किन्तु उसी के प्रकाश से अभिभूत अपनी उपाधिभूत अखण्डाकार चित्तवृत्ति के वाध हो जाने पर केवल चैतन्य ही अवशेष रहता है। जैसे दर्पण के अभाव में मुख प्रतिविम्ब का अभाव होता है केवल विम्ब अवशिष्ट रहता है। वैसे वृत्ति के निवृत्त हो जाने पर प्रत्यगभिन्न परब्रह्म ही रह जाता है।

अत्र श्रुत्यविरोधकथनम्

एवञ्च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्। तदुक्तम्—

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता'। इति॥
'स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते'। इति च॥

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथाहि—अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति। तदुक्तम्—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्' इति॥

यथा दीपप्रभासण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति ॥

ननु 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्,' यन्मनसा न मनुते' इति श्रुत्योः परस्परं विरोधः, मनसैवदर्शनस्य, मननाभावस्य च विरुद्धत्वादिति चेन्न, एकं 'वृत्तिव्याप्यचैतन्यम्, अपरं फलव्याप्यचैतन्यम्। तत्र यदा अन्तःकरणवृत्तिः आवरणनिवृत्त्यर्थं अज्ञानावच्छिन्नचैतन्यं व्याप्नोति तदा तस्य वृत्तिव्याप्यत्वमुच्यते। तच्च ब्रह्मात्मनि स्वीकार्यम्। अहं 'ब्रह्मास्मीति' वृत्तेः स्वीकारात्। अत एव अन्तःकरणवृत्तिप्रतिम्बितचिदाभासेन अज्ञानावच्छिन्नचैतन्यस्य अज्ञाननिवृत्तिपूर्वकः यतः स्वस्वरूपावबोधः तत्तात्पर्येणोक्तम्—मनसैवानुद्रष्टव्यम् इति। एवं फलचैतन्यं च विषयेऽभिव्यक्तं चैतन्यम्। चैतन्ये च न चैतन्याभिव्यक्तिः आत्माश्रयात्, स्वयं प्रकाशकत्वात् आवरणभङ्गस्य प्राग्जातत्वेन चित्तवृत्तिव्याप्यत्वस्य च प्रयोजनाभावात्। अत एव स्वयंप्रकाशस्य ब्रह्मणः अन्यैः मनोबुद्धिप्रभृतिभिरवभासाभावात् इति तात्पर्येणोक्तं 'यन्मनसा न मनुते' इति। इत्थम् अज्ञानचैतन्यस्य वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादने श्रुत्योः परस्पर विरोधाभावात्। तदुक्तम् पञ्चदश्याम्—

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता। इति
स्वयंप्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥ इति च।

अयंभावः—शास्त्रकृद्भिः अस्य चैतन्यस्य फलव्याप्तिः निवारिता। ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय स्वस्वरूपज्ञानाय च वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता स्वीकृता। न च कुतः फलव्याप्तिः निवारितेत्यत आह-शुद्धचैतन्यस्य स्वयंप्रकाशमानत्वात् शुद्धचैतन्यस्फोरणे आभासः=वृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं न उपयुज्यते इति।

ननु यथा चैतन्याकाराकारिता चित्तवृत्तिः जीवचैतन्यगतमज्ञानावरणमात्रं दूरीकृत्य मलिनं जलं विमलीकृत्य कतकचूर्णवत् स्वयं विलीयते। किन्तु चित्तवृत्तिप्रतिबिम्बितपूर्वचैतन्याभासमात्रमवतिष्ठते स चापि

शुद्धचैतन्यस्यांशः, तस्य प्रकाशनेऽसमर्थ इति शुद्धचैतन्ये एव विलीयते। तथा जडघटाद्याकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि विलीयतात् को विशेष इति चेन्न। उभयोः चित्तवृत्योः विशेषात्। तथाहि—'अयं घटः' इति वाक्ये घटाकाराकारितचित्तवृत्तिः अज्ञातं घटावच्छिन्नचैतन्यं विषयीकृत्य तस्य घटावच्छिन्नचैतन्यस्यावरकाज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति इति उभयोः वृत्योः विशेषः।

तदुक्तं पञ्चदश्याम्—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्। इति।

अयंभावः—बुद्धिः=चित्तम् तत्र प्रतिबिम्बितः चैतन्याभासश्च इमौ द्वौ अपि घटं घटावच्छिन्नचैतन्यं व्याप्नुतः। तत्र-तयोर्मध्ये धिया=वृत्या घटावच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानं नश्येत् स्वगतचिदाभासेन घटः स्फुरेत् प्रकाशेत् इत्यर्थः।

यथा अन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरःसरं दीपप्रभामण्डलम् स्वप्रभया घटमपि प्रकाशयति। तथैव जडघटाद्याकाराकारितचित्तवृत्तिर्घटाद्यवच्छिन्नचैतन्याज्ञानावरणं दूरीकरोति स्वप्रतिबिम्बचिदाभासेन च घटादिकं प्रकाशयति। इति।

इस प्रकार 'मनसैवानु द्रष्टव्यम्'' यन्मनसा न मनुते' इन दोनों श्रुतियों का विरोध भी नहीं होगा। क्योंकि चैतन्य दो होते हैं। एक वृत्तिव्याप्य चैतन्य, और दूसरा फल व्याप्य चैतन्य। जब अन्तःकरण के आवरण को हटाने के लिए अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य व्याप्त हो जाता है तब उसे वृत्तिव्याप्य चैतन्य कहते हैं। यह ब्रह्म में होता है क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभवात्मिकावृत्ति सकारी गई है। इस लिए अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चित् के आभास से अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के अज्ञान निवृत्ति पूर्वक स्वस्वरूपावबोध को ध्यान में रखकर 'मनसैमनुद्रष्टव्यम्' श्रुति का तात्पर्य बोध होता है। विषय में अभिव्यक्त

चैतन्य को फल चैतन्य कहते हैं। यतः चैतन्य में चैतन्य की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती क्योंकि आत्माश्रय दोष होगा और स्वयं प्रकाश चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं बनेगी क्योंकि आवरण भंग हो चुकने के बाद चित्तवृत्ति में व्यापार होगा नहीं अतः एक विषय में अभिव्यक्त चैतन्यफल चैतन्य माना गया है। क्योंकि स्वयं प्रकाश ब्रह्म का उससे भिन्न मन, बुद्धि अहंकार और चित्त से अवभास बन नहीं सकता इसी तात्पर्य से 'यन् मनसा न मनुते' श्रुति है। इस प्रकार अज्ञान चैतन्य में वृत्तिव्याप्यत्व मान लेने से फलव्याप्यत्व न मानना प्रतिपादित हो जाता है फिर श्रुतियों का विरोध नहीं होता। इसे ही पञ्चदशी में इस प्रकार कहा गया है कि—

यतः शुद्धचैतन्य के स्वरूप ज्ञान में वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य का उपयोग नहीं है क्योंकि शुद्धचैतन्य स्वयं प्रकाश है। अतः शास्त्र-कारों ने चैतन्य की फलव्याप्ति का प्रतिषेध किया और ब्रह्म में अज्ञान के नाश के लिए तथा स्वरूप के ज्ञान के लिए वृत्तिव्याप्ति स्वीकार की'

यदि कहा जाय कि जैसे चैतन्यकाराकारित चित्तवृत्ति जीव चैतन्य में स्थित अज्ञान के आवरण को दूर करके मलिन जल को निर्मल बनाकर स्वयं विलीन होने वाले कतक के चूर्ण की भांति विलीन हो जाती है और चित्तवृत्ति प्रतिबिम्बित पूर्व चैतन्याभास मात्र रह जाता है जो शुद्धचैतन्य का अंश है किन्तु प्रकाशन सामर्थ्य न होने से विलीन हो जाता है। वैसे जडघट आदि आकार में भासित चित्तवृत्ति भी विलीन हो जाय फिर चैतन्याकाराकारित चित्त-वृत्ति और जड पदार्थाकाराकारित चित्तवृत्ति में क्या भेद होगा। ठीक है। यतः जब 'अयं घटः' 'अहं घटविषयक ज्ञानवान्, इस प्रकार अज्ञात घट विषयक चित्तवृत्ति का उदय होता है तब वह वृत्ति घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरण करने वाले घट विषयक अज्ञान का भी नाश करके अपने में स्थित चिदाभास के द्वारा जड घटको भी प्रकाशित करती है. इस प्रकार चैतन्याकारा चित्तवृत्ति केवल आवरण नाश

करती है अवशेष पूर्व चैतन्याभास मात्र भी विलीन हो जाता है। किन्तु जडाकार चित्तवृत्ति तो अज्ञान को भीं नाश करती है। तथा अपने में अवशेष चिदाभास के द्वारा जड पदार्थ घट को प्रकाशित भी करती है। इस प्रकार दोनों चित्त वृत्तियों में भेद सिद्ध होता हैं। यही बात पञ्चदशी में इस प्रकार कही गई है ? "बुद्धि (चित्त) और बुद्धि प्रतिविम्बित चैतन्याभास ये दोनों विषय देश में जाकर घट में व्याप्त होते है। उनमें से धी (वृत्ति रूप ज्ञान) के द्वारा घट विषयक अज्ञान नष्ट हो जाता है और स्वगत (वृत्ति प्रतिविम्बित) चिदाभास के द्वारा घट प्रकाशित होता है। अर्थात् जैसे अन्धेरे में स्थित घट पट आदि के आवरक अन्धकार की निवृत्ति करके दीपक का प्रभा मण्डल अपनी ही प्रभा से घट को भी प्रकाशित करता है। वैसे घटाद्याकारा चित्तवृत्ति घटादिविषयचैतन्य के अज्ञानावरण को भी नष्ट करती है और स्वप्रतिविम्बित चैतन्याभास के द्वारा घट आदि को प्रकाशित भी करती है।

तत्त्वसाक्षात्कारोपायाः

एवंभूतस्य स्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते।

श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।

लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनम-

भ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्।

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र 'सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।

एवम्भूतस्य उक्तप्रकारस्य श्रुति-युक्त्य-नुभवैः प्रत्यक्चैतन्यभिन्नस्य परमानन्दचिद्रूपस्य स्वरूपचैतन्यस्य साक्षात्काराय श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाध्यनुष्ठानानि अपेक्षितानीति तेऽपीह प्रदर्श्यन्ते।

(१) तत्र श्रवणम्—षड्विधैः वक्ष्यमाणैः लिङ्गैः अशेषवेदान्तवाक्यानामद्वितीये वस्तुनि ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणाय विचारः श्रवणम्।

तत्र लिंगानि[१]—उपक्रमोपसंहारौ, अभ्यासः, अपूर्वता, फलम्, अर्थवादः, उपपत्तिश्चेति षड्विधानि।

---

१. तथा च सर्वदर्शनसंग्रहे—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

(क) उपक्रमोपसंहारौ—प्रकरणप्रतिपाद्यस्य अर्थस्य आदावुपक्रमः, तस्यैव प्रकरणस्य अन्ते तस्यैव अर्थस्य उपपादनम् उपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठे अध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्य अद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यनेनोपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं' इत्यन्ते तस्यैवार्थस्योपपादनमुपक्रमोपसंहारौ।

(ख) अभ्यासः—प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः प्रकरणमध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनम्। यथा—तत्रैव छान्दोग्ये अद्वितीयवस्तुनो मध्ये तत्त्वमसि' इत्यस्य नवकृत्वः=नववारम् प्रतिपादनम्।

(ग) अपूर्वता—प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तरेण अविषयीकरणम्। यथा तत्रैव छान्दोग्ये 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादिभिः श्रुतिभिः ब्रह्मणः औपनिषत् पुरुषत्वप्रतिपादनेन श्रुत्यतिरिक्तं अन्यत् मानं मानान्तरम् तदगोचरत्वप्रतिपादनम्।

(घ) फलम्—प्रकरणप्रतिपाद्यस्य आत्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य ज्ञानानुकूलश्रवणाद्यनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र उपनिषत्सु श्रूयमाणं प्रयोजनं फलम्। यथा तत्रैव छान्दोग्ये आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इति श्रुत्या 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यंशेन श्रवणाद्यनुष्ठानस्य प्रयोजनत्वमुक्तम्। तस्य तावदेवेत्याद्यंशस्य आत्मज्ञानं प्रयोजनम्। तस्य उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य तावदेव चिरं अज्ञाननिवृत्तौ तावानेव विलम्बः यावन्नविमोक्ष्ये यावत् प्रारब्धकर्मणा न विमुक्तो भवति। इत्थमद्वितीयवस्तुज्ञानस्य ज्ञानानुकूलश्रवणाद्यनुष्ठानस्य वा तत्प्राप्तिः ज्ञानप्राप्तिः, चैतन्यप्राप्तिश्च प्रयोजनं श्रूयते।

(ङ) अर्थवादः—प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः तत्र तत्र (स्थानेस्थाने) प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव छान्दोग्ये 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः'। अयमर्थः—आदिश्यते असौ आदेशः अर्थः तम् अर्थं ब्रह्मरूपं अप्राक्ष्यः पृष्टवानसि। 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यादिमन्त्रैः अद्वितीयवस्तुनः प्रशंसनम्।

(च) उपपत्तिः—प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य साधने तत्र-तत्र (स्थाने स्थाने) उपस्थाप्यमाना युक्तिः उपपत्तिः । यथा तत्रैव छान्दोग्ये जगतः ब्रह्मविवर्तसाधनाय 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।' इत्यनेन अद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते । अयमर्थः यथा मृत्परिणामेषु घटादिषु घटाद्याकारेण मृत्तिकायाः परिणमनम्, घट इति नामधेयं (संज्ञा) च केवलं वागालम्बनमात्रम् वस्तुतः सर्वं मृत्तिकैव सत्यम् तेन मृत्पिण्डज्ञाने नामरूपातिरिक्तं सत्यं वस्तु मृत्तिकैव । तथा चिद्विवर्तस्य प्रपञ्चस्य गिरिणदीसमुद्रात्मकविकारनामधेयस्य वाचारम्भणमात्रत्वात् चिन्मात्रमेव अवशिष्यते । रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुभावत्वाविशेषवत् इत्यादिरूपया उक्त्या प्रतिपाद्यस्य प्रतिपादना युक्तिः उपपत्तिः ।

इसप्रकार श्रुति, युक्ति और अनुभवों द्वारा प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमानन्द चिद्रूप स्वस्वरूप चैतन्य के साक्षात्कार के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि, और अनुष्ठान अपेक्षित है अतः उनको भी प्रदर्शित किया जा रहा है ।

१ श्रवण—वक्ष्यमाण लिंगों से समस्त अद्वितीयवस्तु ब्रह्म में तात्पर्यनिर्णय के अनुकूल वेदान्त वाक्यों के विचार को श्रवण कहते हैं ।

लिंग—उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति को लिङ्ग कहतेहैं ।

(क) उपक्रमोपसंहार—प्रकरण में प्रतिपाद्य विषयका आरम्भ से लेकर अन्त तक उसी अर्थ के उपपादन को उपक्रमोपसंहार कहते हैं । जैसे छान्दोग्य उपनिषद के छठें अध्याय में प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तुका 'एकमेवाद्वितीयम्' से उपक्रम (आरम्भ) करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' कहकर उसी विषयका उपपादन किया गया है ।

(ख) अभ्यास—प्रकरण में प्रतिपाद्य वस्तु का प्रकरण के मध्यमें भी पुनः पुनः प्रतिपादन करने को अभ्यास कहते हैं। जैसे–छान्दोग्य के उसी प्रकरण में 'तत्वमसि' का नव वार प्रतिपादन किया गया है।

(ग) अपूर्वता—प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु के विषय में प्रमाणान्तर का न होना अपूर्वता है। जैसे छान्दोग्य, में ही 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' प्रश्नसे ब्रह्म के विषय में श्रुति से अन्य प्रमाण न होना सिद्ध होता है।

(घ) फलम्—प्रकरण प्रतिपाद्य आत्मज्ञान या उसके अनुष्ठान का उन-उन उपनिषदों में बताया हुआ प्रयोजन फल है।

जैसे—छान्दोग्य के पूर्वोक्त प्रकरण में 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति 'तरति शोकमात्मवित्' आदि श्रुतियों से श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के अनुष्ठान को प्रयोजन कहते हैं। वही फल है।

(ङ) अर्थवाद— प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तुकी बीच बीच में स्थान स्थान पर प्रशंसा को अर्थवाद कहते हैं। जैसे छान्दोग्य में उत तमादेशमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम् भवति, अविज्ञातम् विज्ञातम् (तूने उस प्रपञ्चाधिष्ठान, ब्रह्मके स्वरूप को पूछा है जिससे अश्रुत श्रुत, अनभिमत अभिमत, और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है) श्रुति के द्वारा अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गई है।

(च) उपपत्ति—प्रतिपाद्य वस्तु के साधन में जहां तहां कही जाने वाली युक्तियों को उपपत्ति कहते हैं। जैसे छान्दोग्य में ही जगत् को ब्रह्म का विवर्त साधने के लिए यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन–'इत्यादि (सौम्य एक मिट्टी की पिण्डी का घट आदि अनेक रूप में परिणत होना तथा 'घट' शब्द की संज्ञा बनना यह केवल व्यवहार है वस्तुतः सब मृत्तिकाही है। इस प्रकार मृत्पिण्ड ज्ञान हो जाने पर यह ज्ञात होता है कि नाम और रूप (आकार) के बिना मृत्तिका ही सत्य है।) श्रुतियों से अद्वितीय

वस्तु की सिद्धि में जैसे विकार केवल वाणी का ही विषय होता है वैसे नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म का विवर्त है। केवल नाममात्र के लिए पहाड़, नदी, मनुष्य, पशु आदि भेद हैं। वास्तव में सब एक, सत्य ब्रह्म मात्र ही है। यह युक्ति ही उपपत्ति है।

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।

२. मननम्–षड्विधलिङ्गतात्पर्यपूर्वकं श्रुतस्य अद्वितीयवस्तुनः (ब्रह्मणः) वेदान्ताविरोधिनीभिर्युक्तिभिः, नैरन्तर्येण शरीरयात्रासमयातिरिक्तसमये अनुचिन्तनम् मननम्। पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षितशुष्कतर्केऽतिव्याप्तिवारणाय वेदान्तविरोधिनीभिरिति। मननस्यावश्यकत्वद्योतनाय अनवरतेति। व्यवधानेन कृतस्य फलाजनकत्वात्।

२—मनन—छः प्रकार के लिङ्गों का तात्पर्य समझकर वेदान्त की अविरोधी युक्तियों के द्वारा अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का शरीर यात्रा समयातिरिक्त समय में अनवरत अनुचिन्तन करना मनन कहा जाता है। पुरुष की बुद्धि कल्पित तर्कों में अतिव्याप्ति वारण के लिए वेदान्तविरोध पद है। मनन की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए अनवरत पद है।

विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्।

३. निदिध्यासनम्—देहादिबुद्ध्यन्तजडपदार्थविषयकविजातीयप्रत्ययनिरसनेन अद्वितीयवस्तुविषयकसजातीयप्रत्यप्रवाहीकरणम् निदिध्यासनम्। निरन्तरं दिध्यासनमिति सनि युचि रूपम्।

३—निदिध्यासन—देह से लेकर बुद्धि पर्यन्त जड़ पदार्थ में विभिन्नता ज्ञान की निवृत्तिपूर्वक अद्वितीय वस्तु विषयक सजातीय प्रत्ययप्रवाहित करना निदिध्यासन है।

समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति।

तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते। तदुक्तम्—

'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्' ॥ इति ॥

४. समाधिः—वृत्यन्तरनिरोधपूर्वकं चित्तस्य ज्ञेयात्मनावस्थानम्। स च द्विविधः सविकल्पकः, निर्विकल्पकश्चेति। इमौ एव सम्प्रज्ञाता सम्प्रज्ञातसमाधिशब्देनापि साम्प्रदायिकैः उच्येते।

(क) तत्र सविकल्पकसमाधिः (सम्प्रज्ञातसमाधिः) यद्यपि सविकल्पकः समाधिरपि द्विविधः। तत्र प्रथमः अहं ब्रह्मास्मीति ज्ञातृज्ञानज्ञेयविकल्पत्रयभेदभानसहितशब्दानुविद्धतया अद्वितीये वस्तुनि चित्तवृत्तेरवस्थानम्। द्वितीयस्तु-ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयरूपविकल्पत्रिपुटीलयानपेक्षया अहं ब्रह्मास्मीति शब्दानुविद्धतया अद्वितीये वस्तुनि तदाकाराकारिताया चित्तवृत्तेः अविच्छेदेन अवस्थानम्। तथापि केवलं द्वितीयपक्षमभिप्रेत्यैव मूले उक्तम्।

नच सविकल्पकसमाधौ ज्ञात्रादिभेदभाने अद्वैतवस्तुनः असिद्धौ समाधिवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, तदा सविकल्पकसमाध्यनुभवकाले ज्ञात्रादिभेदप्रतीतावपि अद्वैतं वस्तु भासत एव। यथा लोके मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानम्। सुवर्णकुण्डलादिभानेऽपि सुवर्णभानम्। एतदेवाभिनीयोक्तम्—

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद् विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम् ॥ इति ॥

अयमर्थः—दृशिस्वरूपं=चिद्रूपम् (साक्षिरूपम्), गगनोपमम्=आकाशवत् सर्वगतम् (सर्वव्याप्तम्) परं=सर्वथा मायातीतं निर्लिप्तमित्यर्थः। सकृद्विभातम्=सर्वदैकरूपेण विभातम्। न पुनः पुनः, न वा चन्द्रप्रकाशवत् वृद्धिक्षयशीलमित्यर्थः। तुः पादपूरणे। अजं जन्मादिविकारशून्यम्। एकम्—निरस्तसमस्तोपाधिभेदम्, अक्षरं - कूटस्थं नित्यम्। अलेपकम्—लेपः संसारः स न भवतीति अलेपकम् असङ्गत्वादविद्यादिदोषरहितम्। सर्वगतम्-सर्वव्याप्तम्। अद्वयम् = स्वसजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं तेन द्वितीयराहित्यम्। सततं विमुक्तम्=न कदाचिद्बद्धम्। सर्वदा कार्यकारणात्मकसर्वोपाधिविनिर्मुक्तत्वेन सन्ततैकरूपमित्यर्थः। यत् =परं ब्रह्म (ॐ) तदेवचाहमास्मि इति शेषः। अत्र यथा परमात्मनः विभिन्नोपाधिनिर्देशेऽपि न तस्यैकत्वहानिः, तथैव सविकल्पकसमाधौ ज्ञाता, ज्ञानं, ज्ञेयश्चेति त्रिपुटीभानेऽपि तत्सर्वमद्वैतं ब्रह्मैवेति अद्वैतं भासते। अयमेव भिन्नतायामपि एकताया अनुभवः।

४—समाधि—अन्य वृत्तियों के विरोध पूर्वक चित्त का ज्ञेय रूप में अवस्थित होना समाधि है। वह दो प्रकार की होती है। एक सविकल्पक और दूसरी निर्विकल्पक। इन्हीं को साम्प्रदायिक लोग क्रमशः सम्प्रज्ञातसमाधि और असम्प्रज्ञातसमाधि शब्द से भी कहते हैं।

(क) सविकल्पक समाधि। (संप्रज्ञातसमाधि,) यद्यपि सविकल्पिक समाधि भी दो प्रकार की है। एक तो 'अहं ब्रह्मास्मि' में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप तीन विकल्पों के सहित शब्दों से अनुविद्ध अद्वितीय ब्रह्म में चित्त की अवस्थिति और दूसरी ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप विकल्पों की त्रिपुटी के लय की अपेक्षा बिना किये 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार शब्द से अनुविद्ध अद्वितीय वस्तु में तदाकाराकारित चित्तवृत्ति का अविच्छेदेन अवस्थिति है। तथापि मूल में द्वितीय पक्ष का ही उल्लेख किया गया है।

यहाँ यह शंका हो सकती कि जब सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय त्रिपुटी का भेद भासित होता रहेगा तब अद्वैत वस्तु

सिद्ध नहीं होगा फिर समाधि का कोई फल नहीं होगा। किन्तु यह पक्ष उचित नहीं क्योंकि सविकल्पकसमाधि के अनुभव काल में ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय भेद की प्रतीति रहने पर भी अद्वैत वस्तु भासित होती है। जैसे लोक में मिट्टी के हाथी को हाथी व्यवहार करने पर भी मिट्टी का भान होता रहता है। अथवा जैसे कुण्डल, कटक के साथ सुवर्ण का भान होता रहता है। इसी तात्पर्य को निम्नलिखित रूप में कहा गया है।

"जो साक्षि स्वरूप है, जो आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त एवं सर्वथा मायातीत (निर्लिप्त) है, जो सर्वदा एक रूप में भासित होता है तथा चन्द्र प्रकाश के समान वृद्धि तथा क्षयशील नहीं है, जो कभी जन्म नहीं लेता, जो एक है, जो अक्षर (नित्य) है, जो असङ्ग होने के कारण लेप (संसार) के जनक अविद्यादि दोषों से रहित है, जो सर्वत्र विद्यमान है, जो सजातीय विजातीय स्वगत भेदों में शून्य है, जो सदा मुक्त है अर्थात् कार्य, कारणात्मक उपाधि से सर्वथा निर्मुक्त है वह निरतिशयानन्द रूप ब्रह्म ॐकार मैं ही हूँ।"

यहाँ पर जैसे ब्रह्म का विभिन्न उपाधियों से निर्देश किया गया, फिर भी उसकी एकत्व हानि नहीं होती। वैसे सविकल्पिक-समाधियों में भी ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी के भान होने पर भी वह सब कुछ अद्वैत ब्रह्म ही है' इस रूप में अद्वैत ही भासित होता है। इसे ही विभिन्नता में एकता का अनुभव कहा जाता है।

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः॥

(ख) निर्विकल्पकसमाधिः (असंप्रज्ञातसमाधिः)—यद्यपि निर्विकल्पकसमाधिरपि द्विविधः। तत्र प्रथमः चिरकालाभ्यस्तसविकल्पकसमाध्यनुभवजनितसंस्कारसहकृतायाश्चित्तवृत्तेः ज्ञातृज्ञानज्ञेयत्रिपुटीलयपूर्वकमद्वैते वस्तुनि एकत्रीभावावस्थानम्। द्वितीयस्तु—निर्विकल्पकसमाध्यभ्यासपाटवेन लुप्त संस्कारायाः ज्ञातृज्ञानज्ञेयत्रिपुटीलयपूर्वकमखण्डाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेः विनापि स्वस्फूर्तिम् अद्वितीये वस्तुनि अतितरामेकीभावेन अवस्थानम्। तथापि द्वितीयं भेदमवलम्ब्यैव मूलम्। अत्र तु यथा जलमध्यस्थलवणस्य विलये जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवत् अद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्यनवभासेन अद्वितीयवस्तुमात्रमेव अवभासते। नच निर्विकल्पकसमाधौ यथा वृत्यभानम् तथैव सुषुप्तावपीति उभयोरैक्यं स्यादिति वाच्यम् उभयत्र वृत्यभाने समानेऽपि समाधौ अज्ञायमानान्तःकरणवृत्तिसद्भावात् सुषुप्तौतु अन्तःकरणवृत्तेः सर्वथा असद्भावात् उपयोः भेदोपपत्तेः।

(ख) निर्विकल्पिक समाधि—(असम्प्रज्ञात समाधि) यद्यपि निर्विकल्पिक समाधि भी दो प्रकार की है। एक तो चिर काल से अभ्यस्त सविकल्पिक समाधि द्वारा प्राप्त अनुभव से उत्पन्न संस्कार सहकृत चित्तवृत्ति का ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी ज्ञान के लय के साथ अद्वैत वस्तु में अवस्थित होना, और दूसरा—निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास से संस्कारों के लुप्त होने पर है जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी लय पूवक अखण्डाकाराकारित चित्त का अपनी स्फूर्ति के बिना अद्वैत वस्तु में अत्यन्त एकीभाव से अवस्थान। तथापि दूसरे पक्ष को मानकर ही मूल है। जैसे जल मध्यस्थ लवण का जल में विलय हो जाने पर जलाकाराकारित लवण की प्रतीति न होकर केवल जल की ही प्रतीति होती है। वैसे अद्वितीय वस्तु के आकार में भासित चित्तवृत्ति का अवभास न होने से अद्वितीय वस्तु मात्र का अवभास होता है।

यदि कहा जाय कि 'जैसे सुषुप्ति में वृत्ति का भान नहीं होता वैसे निर्विकल्पक समाधि में भी वृत्ति का भान नहीं होता फिर निर्विकल्पक समाधि को सुषुप्ति ही क्यों न मान लिया जाय। किन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि समाधि में अन्तःकरणवृत्ति अज्ञायमान रहती है और सुषुप्ति में अन्तःकरण वृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है। अतः दोनों में भेद सिद्ध है।

निर्विकल्पकसमाध्यङ्गानि

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव॥

निर्विकल्पकसमाधेः, अष्टौ अङ्गानि भवन्ति। तानि च यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः।

(क) तत्र यमः पञ्चविधः। १—अहिंसा वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनम्। २—सत्यम् यथार्थभाषणम्। ३—अस्तेयम् अदत्तपरधनाग्रहणरूपम्। ४—ब्रह्मचर्यम् अष्टाङ्गमैथुन[1] वर्जनम्। ५—अपरिग्रहःसमाध्यनुष्ठानानुपयोगि वस्तुमात्रस्यासङ्ग्रहः।

(ख) नियमः पञ्चविधः। १—शौचम् बाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्र-

---

१. तानि च—स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ इति।

मृज्जलाभ्यां वाह्यम्, भावशुद्धिः आभ्यन्तरम् । २—सन्तोषः—यदृच्छालाभतुष्टिः अलाभे विषादाभावः। ३–तपः अनशनम्, पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणारूपाणां कामानां त्याग इत्यर्थः। ४—स्वाध्यायः–प्रणवजपः, वेदान्तवाक्यावृत्तिश्च । ५—ईश्वरप्रणिधानम्—ईश्वरस्य मानसैरुपचारैः पूजनम् ।

(ग) आसनानि—करचरणाद्यवयवसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीनि योगग्रन्थेषु वर्णितानि चतुरशीति संख्याकानि ।

(घ) प्राणायामः—प्राणवायुपरिग्रहोपायाः रेचक-पूरक-कुम्भकलक्षणाः । [1]तत्र रेचकः-प्राणवायोः शनैः दक्षिण नाशापुटेन बहिःनिःसारणम् । पूरकः-प्राणवायोः वामनाशापुटेन अन्तःप्रवेशनम् । कुम्भकः-पूरितस्य प्राणवायोः अन्तरेव रोधनम् ।

(ङ) प्रत्याहारः—स्वस्वविषयेभ्यः इन्द्रियाणां प्रत्याहरणं (निवर्तनम्) प्रत्याहारः ।

(च) धारणा—सर्वेषां बुद्धिसाक्षितयाविद्यमानेऽद्वितीये वस्तुनि अन्तरिन्द्रियस्य चित्तस्य निक्षेपणम् ।

(छ) ध्यानम्—अद्वितीये ब्रह्मणि वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य चित्तवृत्तेः प्रवाहीकरणम् । समाधावतिव्याप्तिवारणाय विच्छिद्य-विच्छिद्य इति ।

(ज) समाधिः—उक्तरूपः सविकल्पकः एव ।

निर्विकल्पक समाधिके आठ अङ्ग होते हैं। वे हैं यम-नियम आसन-प्राणयाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि।

(क) यम—यम पाँच प्रकार का होता है। जैसे वाणी, मन तथा देह से पर पीडा का त्याग रूप अहिंसा, यथार्थभाषण रूप सत्य,

---

१. लक्षणं यथा—मुञ्चेद् दक्षिणया वायुं मात्राहीनमनन्यधीः ।
पूरयेद् वामया तद्वत् कुम्भयेच्च सुषुम्णया ॥इति ।

बिना दिये हुए दूसरे का धन न लेना रूप अस्तेय, अष्टाङ्ग मैथुन का परित्याग रूप ब्रह्मचर्य। समाधि में सहायता न देने वाली वस्तुका असङ्ग्रह रूप अपरिग्रह।

(ख) नियम—नियम भी पांच प्रकार का है। जैसे १—शौच। शौच भी दो प्रकार का होता है। एक वाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। वाह्य शौच मिट्टी और जल से होता है तथा आभ्यन्तर शौच भावशुद्धि से होता है। २—सन्तोष—यदृच्छालाभ से सन्तोष तथा अलाभ से विषाद न होना। ३—तप—अनशन अथवा कामनाओं का त्याग। कामनायें भी तीन होती हैं पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा। ४ स्वाध्याय—प्रणव का जप और वेदान्तवाक्यों की आवृत्ति। ५ ईश्वर प्रणिधान—ईश्वरकी मानसिक उपचारों से पूजा।

(ग) आसन—कर, चरण आदि का किसी एक प्रकार से रखने की विधि जो पद्म स्वस्तिक आदि चौराशी प्रकार के उन उन नामों से योगशास्त्रमें वर्णित हैं।

(घ) प्रणायाम—प्राणवायु के निग्रह के लिये किये जाने वाले पूरक, रेचक, कुम्भक रूप उपाय। प्राणवायु को बाँई नाकसे अन्तः प्रवेश करना पूरक है। पूरित प्राण वायुका अन्दर रोक लेना कुम्भक है और प्राण वायु (स्वास) का धीरे-धीरे दाहिने नाक के छिद्रसे निकालना रेचक कहा जाता हैं।

(ङ) प्रत्याहार—इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों को छोड़ कर लौटा देना प्रत्याहार है।

(च) धारणा—सबकी बुद्धि के साक्षी रूप में विद्यमान अद्वितीय वस्तु में अन्तरिन्द्रिय चित्तका लगाना धारणा है।

(छ) ध्यान—अद्वितीय वस्तु ब्रह्ममें हटा हटा कर पुनः चित्तवृत्ति को प्रवाहित करना। समाधिमें अतिव्याप्ति कारण के लिए हटा हटा कर कहा गया है।

(ज) समाधि—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भेदावभासपूर्वक अद्वितीय वस्तु में तदाकाराकारितचित्तवृत्तिकी स्थिति को सविकल्पक-समाधि कहते हैं।

निर्विकल्पकसमाधिविघ्नाः

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादल-क्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवल-म्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्या-वलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेः रागादिवास-नया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्व-लम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा॥

अङ्गीभूते अस्मिन् निर्विकल्पके समाधौ चत्वारः विघ्नाः भवन्ति। ते च लय-विक्षेप-कषाय-रसास्वादाख्याः।

१--तत्र लयः-आलस्येन चित्तवृत्तेः बाह्यशब्दादिविषयग्रहानादरे सत्यपि प्रत्यगात्मस्वरूपानवभासनात् वृत्तेः स्तब्धीभावलक्षणनिद्रारूपोलयः विघ्नः। अद्वितीयवस्तुप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वात्।

२—विक्षेपः—अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेः अन्यस्य बाह्यवस्तुनः अवलम्बनम्। अखण्डवस्त्ववलम्बनाय प्रवृत्तायाः चित्तवृत्तेः विषयान्तरावलम्बनम् विक्षेप इति भावः।

३—कषायः—लयविक्षेपाभावेऽपि रागादिवासनया चित्तवृत्तेः स्तब्धी-भावात् अखण्डवस्त्वनवलम्बनम्।

४. रसास्वादः—अखण्डवस्त्ववलम्बनं विनापि चित्तवृत्तेः सवि-कल्पकसमाधौ अनिष्टबाह्यप्रपञ्चनिवृत्तिजन्यानन्दास्वादनं रसास्वादः।

निर्विकल्पकसमाध्यारम्भकालेऽनुभूयमानो यः सविकल्पकानन्दः तत्परित्यागासहिष्णुतया पुनः तस्यैवास्वादनं वा रसास्वादः।

इस निर्विकल्पक समाधि में चार विघ्न होते हैं। १—लय, २—विक्षेप ३—कषाय, ४—रसास्वाद।

१ लय—आलस्य वश चित्तवृत्ति बाह्यविषयों को ग्रहण करने में अनादर तो करती है किन्तु प्रत्यगात्मस्वरूपका उसे अवभास नहीं होता। इस प्रकार चित्तवृत्ति की स्तब्धतारूप निद्रा को लय कहते हैं। यह अद्वितीय वस्तुकी प्राप्ति में बाधक है।

२ विक्षेप—अखण्ड वस्तु के अवलम्बन के लिए प्रवृत्त चित्तवृत्ति द्वारा अन्य बाह्यविषयों का अवलम्बन करलेने को विक्षेप कहते हैं।

३ कषाय—लय और विक्षेप रूप विघ्नों के अभाव में भी राग आदि वासनाओं के कारण चित्तवृत्ति का स्तब्ध हो जाना अर्थात् अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना 'कषाय' है।

४ रसास्वाद—अखण्डवस्तु के अवलम्बन के बिना भी सविकल्पक समाधि में चित्तवृत्ति द्वारा अनिष्ट बाह्यप्रपञ्चनिवृत्ति से जन्य आनन्दके आस्वादन को रसास्वाद कहते हैं।

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

'लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति॥
'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' इति च॥

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं यदा निर्वातप्रदेश-

स्थितदीपवदचलं सत् अखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्-गौडपादाचार्येण-गीतायां च।

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्॥ इति।
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। इति च।

अयमर्थः—उक्तस्वरूपे लये प्राप्ते सति तन्निवृत्यर्थं चित्तं सम्बोधयेत् = उद्बोधयेत्। एवं विक्षिप्तं विक्षेपलक्षणविघ्नयुक्तं चित्तं पुनः विषयवैराग्यादिना शमयेत् अन्तःप्रवणं कुर्यात्। एवं यदा चित्तं सकषायं विज्ञानीयात् विज्ञातं भवेत् तदा तमपि पुनरन्तःप्रवणं कुर्यात्। एवं कृतेऽपि यदा चित्तं शमप्राप्तं स्यात् तदा तस्मात् न विचालयेत्। किन्तु रसास्वादं विवर्जयेत् प्रज्ञया च निःसङ्गो भवेत्। एवं स्थितप्रज्ञस्य प्रत्यक् प्रवणता सुलभा इति भावः। स्थितप्रज्ञस्य निवातप्रदेशस्थितो दीपो दृष्टान्तः। एतौ च समाधी जीवन्मुक्तस्यैव।

इन विघ्नों से रहित चित्त जो निवात प्रदेश में रक्खे हुए दीपके सदृश अचल हो जाता है तथा अखण्ड चैतन्य मात्रमें अवस्थित रहता है वही निर्विकल्पक समाधि कही जाती है। इसी रहस्य को गौडपादाचार्य तथा गीता ने भी कहा है—

"जब चित्तवृत्ति में निद्रारूप लय आपड़े तब उसको दूर करने के लिए चित्त को उद्बुद्ध करे। जब विक्षेपरूप विघ्न प्राप्त हो जाय तब चित्तको विषय वैराग्य उत्पन्न करके शान्त करे और पुनः अन्तर्मुख बनावे। जब चित्तमें कषाय विघ्न आपड़े तब कषाय की निवृत्ति के लिए चित्त को अन्तर्मुख करे। ऐसा करने पर जब स्थिर चित्त शम को प्राप्त हो जाय तब उसे चालित न करे किन्तु रसास्वाद से पृथक् कर दे और प्रज्ञा से निःसङ्ग हो जाय। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ की प्रत्यक् प्रवणता उचित भी है। स्थित-प्रज्ञ का निवात प्रदेश स्थित दीप दृष्टान्त है। ये दोनों समाधियां जीवन्मुक्त को ही होती हैं।

जीवन्मुक्तलक्षणम्

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यादि श्रुतेः॥

उक्तप्रकारी सविकल्पकनिर्विकल्पकसमाधी जीवन्मुक्तस्यैव भवतः। तत्र जीवन्मुक्तो नाम आचार्योपदेश-श्रुतिवाक्य-स्वानुभवैः स्वस्वरूपा-अखण्डब्रह्मज्ञाने जाते आत्मगताखिलाज्ञाननिवृत्ति द्वारा स्वस्वरूपाखण्ड-ब्रह्मणि साक्षात्कृते सति अज्ञानतत्कार्याणां सञ्चितकर्म-संशय-विपर्ययादीनामपि विनाशे विगलिताखिलबन्धनः ब्रह्मनिष्ठः। अत्र अखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठ: जीवन्मुक्तः इति जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् अन्यत् सर्वं बन्धसम्बन्धसाहित्ये हेतुः। तदुक्तं मुण्डकोपनिषदि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।

अयमर्थः—आचार्योपदेशादिभिः तस्मिन् सर्वात्मके परावरे आत्मतत्त्वे दृष्टे साक्षात्कृते सति हृदयस्य ग्रन्थिः अज्ञानम् बुद्धिस्थितवासनामयकामादि भिद्यते विनश्यति। ततः ज्ञेयसम्बन्धे संशयाः छिद्यन्ते विनश्यन्ति। अस्य जीवस्य कर्माणि क्षीयन्ते क्षीणाः भवन्ति। तत्र कर्म त्रिविधं एकं सञ्चितं, द्वितीयं प्रारब्धम्, तृतीयं क्रियमाणम्। तत्र ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते इति श्रुतेः सञ्चितकर्मणां ज्ञानाग्निना क्षयः। प्रारब्धस्य तु कर्मणः नाभुक्तं क्षीयते कर्म इति श्रुतेः भोगेन क्षयः। क्रियमाणकर्मणस्तु कर्मफलाननुसन्धानात् क्षयः। अतः अखिलसंचितकर्मबन्धरहितः प्रारब्धकर्मभोगवान् ब्रह्मनिष्ठः जीवन्मुक्तः इति फलति।

जीवन्मुक्तका लक्षण

आचार्य के उपदेश, श्रुतिवाक्य, और स्वानुभव से स्वस्वरूप अखण्ड ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उस ब्रह्म के सम्बन्ध में सकल अज्ञानों का बाध होता है और स्वस्वरूप अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ऐसी दशा में अज्ञान, उसके कार्य रूप संचित कर्म, संशय, विपर्यय आदि के बाध हो जाने पर समस्त बन्धन छूट जाते हैं और इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त होता है। 'अखिल बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ' यह जीवन्मुक्त का लक्षण है। अन्य विशेषण तो बन्ध सम्बन्ध साहित्य में हेतु हैं यही बात मुण्डकोपनिषद् में भी बताई गई है।

'[आचार्य के उपदेश से] उस सर्वात्मक परावर आत्मतत्त्व के ज्ञान हो जाने पर हृदय की अज्ञान रूप ग्रन्थि छूट जाती है। तब ज्ञेय के सम्बन्ध में संशय विनष्ट हो जाता है। और जीव के कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। यद्यपि कर्म तीन प्रकार का है एक सञ्चित, दूसरा, प्रारब्ध, और तीसरा क्रियमाण। इनमें 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इस गीता के अनुसार संचित कर्मों का ब्रह्म-ज्ञान से ही नाश होता है। प्रारब्ध कर्मों का तो 'नाभुक्तम् क्षीयते कर्म' इस श्रुति के अनुसार भोग द्वारा ही क्षय होता है। क्रियमाण कर्मों का ईश्वरार्पण कर देने से क्षय होता है। इस प्रकार 'समस्त संचित कर्म बन्धनों से रहित और प्रारब्ध कर्मों का भोग करने वाले ब्रह्मनिष्ठ लोग जीवन्मुक्त होते हैं यह जीवन्मुक्त के लक्षण का निष्कर्ष होता है।

अस्य कर्मभोगः

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेण, आन्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेण, अशनायापिपासाशोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्त-

दिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। 'स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—

'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः'-इति।

ननु जीवन्मुक्तस्य देहेन्द्रियादिभानमस्ति न वा। नास्ति चेत् शरीरपातः कुतो न, प्रारब्धकर्मणः इन्द्रियादिनैव भोगात्। अथ भानमस्ति इति चेत् र्तांह बद्धात् जीवन्मुक्तस्य को भेदः इति चेत् शृणु, अयं जीवन्मुक्तः व्युत्थानसमये=जाग्रदवस्थायां मांस-रक्त-मूत्र-पुरीषभाजनेन शरीरेण, अन्धत्व-बधिरत्व-अपटुत्वादिभाजनेन इन्द्रियग्रामेण, बुभुक्षा-पिपासा-शोक-मोहादिभाजनेन अन्तःकरणेन च पूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि, भुज्यमानानि च ज्ञानाविरुद्धानि प्रारब्धकर्मफलानि च पश्यन्नपि परमार्थतः बाधितत्वात् न पश्यति। यथा इदमिन्द्रजालमिति ज्ञानवान् पुरुषः तत् इन्द्रजालं पयन्नपि इदं परमार्थमिति न पश्यति। श्रुतिश्च भवति 'सचक्षुरचक्षुरिव ··· सप्राणोऽप्राण इव' इति। उक्तञ्च उपदेशसाहस्त्र्याम्।

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयञ्च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यःस आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः। इति

अयमर्थः—इह जगति स पुरुष एव आत्मवित्- आत्मज्ञानवान् अन्यः अन्यादृशः न, इति इत्थं मे मम निश्चयः निर्णयः। सः कः इत्याह—यः पुरुषः ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कारेण निरस्तसमस्तभेदबुद्धिः अद्वयत्वतः सुषुप्तवत् सुप्तावस्थायां अद्वैतभानवत् जाग्रति जाग्रदवस्थायामपि द्वयं पश्यन्नपि न पश्यति ब्रह्मातिरिक्तस्य जडपदार्थस्यासत्वात्। तथाच कर्माणि नित्यादीनि कुर्वन्नपि आत्मनि कर्तृत्वाभावनिश्चयेन निष्क्रियः भवति। सुषुप्तावद्वैतभानवत् जाग्रदपि अद्वैतभानेन भेदनिरासेन च केवलं संसारयात्रार्थं कर्म करोति स जीवन्मुक्तो भवतीति भावः।

'जीवन्मुक्त-को प्रारब्ध कर्म भोग की विधि'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि क्या जीवन्मुक्त को देह और इन्द्रियों का भान होता है अथवा नहीं। यदि देह आदि का भान नहीं होता तो शरीर क्यों नहीं छूटता क्योंकि इन्द्रियों से प्रारब्ध कर्मों का भोग हो सकेगा। यदि भान होता है तो बद्ध से जीवन्मुक्त में भेद ही क्या हो सकता है? ठीक है, किन्तु यह जीवन्मुक्त जब जाग्रत अवस्था में होता है तब मांस, मूत्र, पुरीष के पात्र देह से, अन्धता बधिरता और मन्दता के पात्र इन्द्रियों से, भूख, प्यास, शोक, मोह आदि के पात्र अन्तःकरणों से, पूर्व वासना वश क्रियमाण कर्मों को भोगे जाने वाले ज्ञान से, अविरुद्ध प्रारब्ध कर्म फलों को देखते हुए भी बाध होने के कारण परमार्थतः नहीं देखते। जैसे 'यह इन्द्र जाल है' इस प्रकार जानने वाला पुरुष उस इन्द्र जाल को देखता तो है किन्तु यह सत्य है इस रूप में नहीं देखता। इसी बात को 'सचक्षुरचक्षुरिव···सप्राणोऽप्राण इव' श्रुति भी कहती है। उपदेश साहस्री में भी यही बात इस प्रकार कही गई है।

'इस जगत् में वही पुरुष आत्म ज्ञानी है दूसरा नहीं यह मेरा निर्णय है। जो पुरुष ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान द्वारा समस्त भेद बुद्धि को दूर करके जाग्रत अवस्था में द्वैतभान को जो सुषुप्तावस्था में अद्वैतभान की भाँति विशेष नहीं समझता तथा नित्य कर्मों को करता हुआ भी 'मैं करता नहीं हूँ' इस निश्चय के कारण निष्क्रिय है।

अस्य न स्वेच्छाचारिता

अस्य ज्ञानात् वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्ति-वच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा। तदुक्तम्—

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणो' इति ॥
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः, इति ॥

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते ।

तदुक्तम्—

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥ इति ॥

ननु जीवन्मुक्तस्य कर्मफलभोक्तृत्वाभावे 'मम पुण्यपापलेशो नास्ति' इति बुद्धया यथेष्टाचारप्रसङ्ग इति चेन्न, अस्य जीवन्मुक्तस्य ज्ञानात् पूर्वं 'शान्तो दान्तः' इत्यादिश्रुत्यनुसारं अशुभवासनाया साधनावस्थायामेव निवारितत्वात् संसारदशायामप्रयत्नेन आहारादिप्रवृत्तिवत् तत्त्वज्ञानोत्तरमपि शुभवासनानामेव अनुवृत्तिर्भवति । नचैवं शुभवासनानामेवानुवृत्तेः प्रयोजनाभावात् तदनुवृत्तिकल्पनमयुक्तमिति वाच्यम् शुभाशुभयोः औदासीन्यमेव जीवन्मुक्तस्येति कल्पनेनादोषात् । तदुक्तं नैष्कर्म्यसिद्धौ ।

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशाञ्चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे । इति ।

अयमर्थः—बुद्धं अद्वैतसतत्त्वं येन तस्य बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य ज्ञाताद्वैतयाथात्म्यस्य यदि अशुचिपदार्थभक्षणे यथेष्टाचरणं स्यात् तर्हि शुनां तत्त्वदृशां च को भेदः स्यात् । मुमुक्षोरपि विदुषः नास्ति यथेष्टाचरणं तर्हि जीवन्मुक्तस्य तत्र प्रवृत्तिरेव नेति इति भावः । किं बहुना ब्रह्मविदः 'अहं ब्रह्मवित्' इत्यभिमानोऽपि न भवति । तथा च उपदेशसाहस्र्यम् । ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः । इति ।

इत्थं जीवन्मुक्तदशायाम् अमानित्वं, अदम्भित्वं, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवम्, इत्यादयो गुणाः ये ज्ञानसाधनत्वेन उक्ताः, ये च 'अद्वेष्टृत्वादयः' सद्गुणाश्च उक्ताः । ते अयत्नेनैव अलङ्कारवदनुवर्तन्ते । तदुक्तं नैष्कर्म्यसिद्धौ-

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥ इति ॥

अयमर्थः—उत्पन्नः आत्मबोधः ब्रह्मात्मैकत्वनिश्चयरूपः यस्य तस्य उत्पन्नात्मावबोधस्य अस्य जीवन्मुक्तस्य हि अद्वेष्टृत्वादयो अयत्नतः गुणाः भवन्ति साधनरूपिणः ज्ञानसाधनानि तु न भवन्ति इत्यर्थः ।

जीवन्मुक्त में स्वेच्छाचारिता का न होना

यहाँ यह शंका होती है कि जब जीवन्मुक्त कर्म फल का भोक्ता नहीं है तब तो वह "मुझे पाप या पुण्य का लेश मात्र भी फल नहीं होगा इस बुद्धि से यथेच्छाचारी हो जायगा" यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जीवन्मुक्त दशा तो ज्ञान होने के बाद प्रमाता की होती है किन्तु 'शान्तो दान्तः' श्रुति के अनुसार अशुभ वासनायें तो साधक अवस्था में ही निवृत्त हो जाती हैं फिर बिना किसी प्रयत्न के जीवन्मुक्त को संसार दशा में आहार प्रवृत्ति की भाँति तत्त्व ज्ञान के बाद शुभ वासनायें ही रहेंगी, अशुभ वासनायें नहीं ।

यदि कहा जाय कि जीवन्मुक्त के लिए शुभ वासनाओं की कोई आवश्यकता नहीं है फिर उसकी अनुवृत्ति उसमें मानना उचित नहीं किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि जीवन्मुक्त शुभ और अशुभ से उदासीन ही होता है । नैष्कर्म्यसिद्धि में यही बात निम्नलिखित रूप में वर्णित है ।

"अद्वैत तत्त्व को ठीक से जान लेने वाला व्यक्ति यदि अपवित्र पदार्थों के भोजन में यथेष्टाचरण करें तो कुक्कुर तथा तत्त्व-ज्ञानी में कोई भेद नहीं होगा ।"

उपदेश साहस्री में भी कहा है कि जीवन्मुक्त में 'मैं ब्रह्म ज्ञानी हूँ' यह अभिमान भी नहीं होता ।

इसी प्रकार अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता आदि गुण जो ज्ञान साधन कहे जाते हैं और जो अद्वेष्टृत्वादिक सद्गुण

कहे गये हैं वे सब जीवन्मुक्त में लक्षण की भाँति स्वयं आ जाते हैं। नैष्कर्म्यसिद्धि में भी यही बात कही गई है कि जिसे आत्मबोध हो गया है उनके समीप में अद्वेष्टृत्वादि गुण बिना किसी प्रयत्न के आ जाते हैं। हाँ वे यहाँ ज्ञान के साधन रूप में नहीं आते।

उपसंहारः

किं बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तः करणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिल भेदप्रतिभासरहितमखण्डं ब्रह्मवातिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' अत्रैव समवलीयन्ते, 'विमुक्तश्च विमुच्यत' इत्यादिश्रुतेः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्द-
विरचितो वेदान्तसारः समाप्तः॥

किं बहुना अयं जीवन्मुक्तः केवलं देहयात्रासिद्ध्यर्थं न तु इन्द्रियप्रीत्यर्थं इच्छा प्राप्तानि भिक्षान्नादीनि, अनिच्छाप्रापितानि कण्टकवेधादीनि, परेच्छाप्राप्तानि केनापि जनेन स्वयमागत्य दत्तानि सुखसाधनानि दुःखसाधनानि वा प्रारब्धफलानि अवश्यभोग्यानि अनुभवन् अन्तः कारणाभासानां विषयाकारवृत्तीनाम् बुद्ध्यादिसाक्षितया अवभासकः सन् भोगेन प्रारब्धक्षये प्रत्यगभिन्ने आनन्दमये परमात्मनि ब्रह्मणि प्राणे लीने जाते सति अज्ञानस्य तत्कार्यरूपसंस्काराणामपि विनाशे कृतकृत्यः सन् पुनर्देहान्तरहेत्वभावात् परमकैवल्यं आनन्दैकरसम्, अखिलभेदप्रतिभासरहितम्, अखण्डं ब्रह्मैव अवतिष्ठते। तदाह-श्रुतिः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (जीवन्मुक्तस्य प्राणाः न उत्क्रामन्ति लिङ्गशरीरेण सह अत्यन्तं गच्छन्ति) किन्तु "अत्रैव समवलीयन्ते" अत्रैव ब्रह्मणि एव अतितप्तलोहक्षिप्तजलबिन्दुवत् प्राणाः समवलीयन्ते लीनाः भवन्ति। समुद्रे ऊर्मय इव। एवं "विमुक्तश्च विमुच्यते।

संसार दशयामपि विमुक्तः विमुक्तदशायाम् भाविदेहबन्धनात् सविशेषेण मुक्तो भवति इति मुक्त इत्युच्यते। तथा च श्रुतिः।

न विरोधो न चोत्पत्तिः न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्नवा मुक्त इत्येषा परमार्थता।

इति न्याय व्याकरण-साहित्याचार्य-श्रीरामगोविन्दशुक्लविरचिता
वेदान्तसारदीपिका समाप्ता।

बस इतना ही बहुत है कि 'यह जीवन्मुक्त केवल देह यात्रा के लिए न कि इन्द्रिय प्रीति के लिए इच्छा से प्राप्त, अनिच्छाप्राप्त, परेच्छाप्राप्त, भिक्षान्न, कण्टकवेध, अन्यजन दत्त सुख अथवा दुःख देने वाले प्रारब्ध कर्म फलों के भोग का अनुभव करते हुए अन्तःकरण की विषयाकार वृत्तियों को बुद्धि द्वारा वास्तविक रूप में जानता है। इस प्रकार भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मों के क्षय हो जाने पर प्रत्यगभिन्न आनन्दमय ब्रह्म में प्राणों के लीन हो जाने से अज्ञान और अज्ञान के कार्य संस्कारों के विनाश हो जाने से कृतकृत्य हो जाता है। और देहान्तर प्राप्त करके कारणों के अभाव होने से अखण्डब्रह्म मात्र अवशेष रहता है। श्रुतियाँ भी ऐसा ही कहती है।

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति,
अत्रैव समवलीयन्ते, विमुक्तश्च विमुच्यते।
न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्नवा मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

इति न्यायव्याकरण साहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्लरचित
वेदान्तसार की हिन्दी व्याख्या 'मयूख' समाप्त।

टीकाकर्तुः परिचयः

वादे युद्धे विजयिनो जनयन्ती बुधान् नृपान् ।
पुण्या मुक्तिप्रदायोध्या मातृभूमिर्विराजताम् ॥ १ ॥

राज्ञा श्रीरामचन्द्रेण राजसूये प्रपूजिताः ।
सरयूपारिणो विप्राः वसन्ति सरयूतटे ॥ २ ॥

सरय्वास्तूत्तरे तीरे स्फीतः जनपदो महान् ।
गोरक्षपुरनामास्ति मामखोरपुराश्रयः ॥ ३ ॥

तत्र गर्गान्वये शुक्ले शुक्लः शुक्लयशाः किल ।
हरिवंशात् समुत्पन्नः दत्ता हरिहराभिधः ॥ ४ ॥

जाते च वंशविस्तारे संकीर्णे विप्रमन्दिरे ।
सरय्वाः दक्षिणे तीरे साकेतात् पञ्चयोजने ॥ ५ ॥

पूर्वस्यां दिशि विख्याते शुक्लपट्टीति नामके ।
ग्रामे निवासमकरोत् टेकराय प्रपूजितः ॥ ६ ॥

ततो लालमणिर्जातः विद्वत्सु बहुपूजितः ।
श्रीविश्वेश्वरदत्तोऽभूत् तस्य वंशे महायशाः ॥ ७ ॥

श्री रामेश्वरदत्तास्तु जातस्तस्मादुदारधीः ।
आगत्य दियराराज्ये वैदुष्यात्तोपितेन च ॥ ८ ॥

राज्ञा रुद्रप्रतापेन पूजितः ख्यातिमाप्तवान् ।
तद्दत्त भूमिभागे च निवासमकरोत् सुधीः ॥ ९ ॥

ततो जातो लोकमान्यः सूर्यनारायणः सुधीः ।
व्याकरणेषु, च सर्वेषु दर्शनेषु तथैव च ॥१०॥

वादे च विवृतौ चापि यस्य प्रज्ञा न कुण्ठिता ।
टीका वाक्यपदीयस्य ब्रह्मकाण्डे विनिर्मिता ॥११॥

लोकोत्तरा तथैवादौ मुक्तावल्याः सुनिर्मला ।
अनेका सन्ति तट्टीकाः रम्याः लोकमनोहराः ॥१२॥

ततः श्रीरामगोविन्दशुक्लोऽयं तद्गुणाश्रयः ।
चतुर्षु भ्रातृषु श्रेष्ठः सर्वेभ्यश्च समादृतः ॥१३॥

जगदीशप्रतापेन दियराराज्यस्वामिना ।
दत्तां भूमिमयं भुङ्क्ते भ्रातृभिः सहितो मुदा ॥१४॥

मानमेयोदये हिन्दीव्याख्यां परिसमाप्य च ।
व्याख्यां वेदान्तसारस्य कृतवान् यः सुकोमलाम् ॥१५॥



आगरा विश्वविद्यालय के वेदान्तसार के प्रश्न

Explain the following

१ बुद्धितत्स्थ········स्फुरेत् ।
२ विक्षेपशक्ति··········उपादानञ्च भवति ।
३ अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलम्·····वाक्यार्थोन सङ्गच्छते ।
४ शक्तिद्वयवदज्ञानोपहित·······उपादानञ्च भवति ।
५ समानाधिकरण्यम्···पदार्थप्रत्यगात्मनम् ।
६ लये सम्बोधयेत्·······स्मृताः ।
७ इदमेव तुरीयम्······चोच्यते ।
८ भिद्यते हृदयग्रन्थि······परावरे ।
९ अज्ञानं तु······श्रुतेश्च ।
१० इदं तत्त्वमसि······ तदुक्तम् ।
११ अयं घट·····तदुक्तम् ।
१२ अनयैवावरणशक्त्या····· जगत्सृजेत् ।
१३ संसर्गो वा······विदुषां मतः ।
१४ एवञ्च सति······तदुक्तम् ।
१५ फलव्याप्यत्वमेवास्य······वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
१६ असर्पभूते·······श्रुतेश्च ।
१७ निर्विकल्पकस्तु······भेदोपपत्तेः ।
१८ जीवन्मुक्तो नाम······ब्रह्मनिष्ठः ।
१९ वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयो······लक्ष्यमिति चोच्यते ।
२० न च तत्पदं त्वत्पदम्······अपेक्षाभावाच्च ।
२१ जडपदार्थाकाराकारित······स्फुरेत् ।
२२ अपवाद नाम······तदुक्तम् ।
२३ सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा······इत्युदीरितिः ।
२४ अनेन विघ्नचतुष्टयेन······तदुक्तम् ।
२५ किं बहुन·····अवतिष्ठते ।

General Questions

1 Discuss the nature of unreality according to वेदान्त ।

2 Analyse the vedantic conception of अज्ञान ।

3 What do you gather from your study of वेदान्तसार with regard to the Vedantic conception of God, Soul & the World ?

4 Write a note explaining as clearly as you can the Vedantic conception of बन्ध & मोक्ष ।

5 Define अज्ञान mentioning its chief शक्ति and their work. How does a Vedantic reach the conception of nonduality in spite of the apparent diversity ?

6 Compare the nature of आत्मा in Vedant with that of पुरुष in Samkhya ?

7 Give a clear exposition of the Vedant doctrine of अध्यारोप Discuss its merits explaining the appearance of pulrality and difference.

8 Following the Vedantsar write a short essay on the nature and the relation of ब्रह्मन्, जीव, ईश्वर ।

9 Write a short essay on the Vedant conception of अध्यास (illuison) & अज्ञान (ignorance).

10 Explain fully the nature and significance of the theory of जीवन्मुक्त ।

11 Write notes on :—

अजहल्लक्षणा, सविकल्पसमाधि, भागलक्षणा, पञ्चीकरण, आवरणशक्ति, विघ्नचतुष्टय, महावाक्य, जीवन्मुक्त, वैश्वानर,

लिङ्गशरीर, अध्यारोप, तन्मात्राणि, विक्षेपशक्ति, विवर्त।

12 Explain the position of अध्यारोप & अपवाद and point out the वाच्यार्थ & लक्ष्यार्थ of the padas in the महावाक्य 'तत्त्वमसि'।

13 Explain fully the process of Creation according to Vedant and compare it with that of सांख्य।

14 What kind of Ethical life is prescribed for a मुमुक्षु in Vedant.

15 What do you know about the प्रमाण in Vedant system of thought ?

16 How would you reconcile the contradictory statements contained in the श्रुतिs liks 'मनसैवानुद्रष्टव्य'' and 'यन्मनसा न मनुते'।

शास्त्रिपरीक्षायाम्

१९६०

१—अध्यारोपवादाभ्यां ब्रह्मैकत्वं प्रसाध्यताम्।

२—तत्त्वमसि इति वाक्यादखण्डार्थबोधोदयप्रकारः प्रतिपाद्यताम्।

३—फलव्याप्तिवृत्तिव्याप्ती निरुच्य घटादौ तदुभयस्वीकारप्रयोजनमावेद्यताम्।

४—निर्विकल्पकस्य चतुरो विघ्नानुपवर्ण्य तन्निराकरणोपाया अभिधीयन्ताम्।

१९६१

१—वेदान्तविद्यायाः के चत्वारोऽनुबन्धाः।

२—अज्ञानस्य किं लक्षणम्, किं तस्य शक्तिद्वयम्, तयोः शक्त्योः किं कार्यम् किं च निवर्तकज्ञानस्य।

३—सूक्ष्मशरीरस्य सप्तदशावयवाः के तस्य समष्टिव्यष्टिभ्यामुपहितयोः किं नाम किं चान्तरम्।

४—तात्पर्यग्राहकाणि षड् लिङ्गानि कानि, कथं च तैरद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यग्रहः।

५—का फलव्याप्तिः का च वृत्तिव्याप्तिः, किं च प्रयोजनं घटादौ तयोरुभयोरभ्युपगमस्य ?

१९६२

१—वेदान्तसारानुसारेणाऽध्यारोपाऽपवादयोः स्वरूपं निपुणं निरूप्यताम्।

२—समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेण अज्ञानमेकमनेकं वा जागरितादिदशासु तदुपहितचैतन्ययोः भेदाऽभेदौ विशदीकरणीयौ।

३—कथं तत्त्वमसि वाक्यात्सम्बन्धत्रयेणाऽखण्डार्थबोधो जायते।

४—अहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो विपुलं वर्ण्यताम्।

५—सविकल्पक-निर्विकल्पकसमाधिद्वयमुपपाद्यताम्।

१९६३

१—अज्ञानस्य शक्तिद्वयं प्रपञ्चोत्पत्तौ तत्फलञ्च वदत। द्विविधाज्ञानस्य स्वरूपं सदृष्टान्तमभिधीयताम्।

२—अध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वंपदार्थशोधनप्रकारो वर्ण्यताम्।

३—स्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारे कथं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानमुपयोगीति स्पष्टमाख्यायताम्।

४—जीवन्मुक्तलक्षणं निश्शेषं निरूप्यताम्।

१९६४

१—वेदान्तसारस्य अनुबन्धोऽविकलमभिधीयताम्।

२—समष्टिव्यष्ट्यज्ञानाऽभिप्रायेण सषुप्त्यादिदशाः संक्षिप्यन्ताम्।

३—अन्यमतानुसारेण आरोपितमात्मस्वरूपं प्रपञ्च्याऽद्वैतरीत्या पारमार्थिकं तत्प्रतिपाद्यताम्।

४—महावाक्यं कथमखण्डार्थबोधकं भवतीति विलिख्यताम्।

१९६५

१—अध्यारोपापवादस्वरूपमभिधाय तत्त्वम्पदार्थशोधने तदुपयोगः प्रसाध्यताम् ।

२—अज्ञानस्य शक्तिद्वयं सोदाहरणं व्याख्याय जगदवभासे सोपपत्तिकं तत्फलं निरूप्यताम् कथमेतदुपहितं चैतन्यं जगतो निमित्तमुपादानञ्चेत्युभयं भवति ।

३—अहं ब्रह्मास्मीति अनुभववाक्यार्थो मनोविज्ञानानुसारं विव्रियताम्

४—सविकल्पकनिर्विकल्पकसमाधिद्वयमुपपाद्य स्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारे तदुपयोगः प्रदर्श्यताम् । के निर्विकल्पकस्य चत्वारो विघ्नाः, कथं च ते निराक्रियन्ते ।

५—समष्टिव्यष्टिव्याख्या क्रियताम् ।

६—"मनसैवानुद्रष्टव्यम्" "यन्मनसा न मनुते" इत्यनयोः श्रुत्योर्विरोधः कथं घटादिप्रत्यक्षे व्याप्तिद्वयापेक्षा ब्रह्मसाक्षात्कारे तु फलव्याप्तिप्रतिषेधः परिह्रियताम् ।

१९६६

१—सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिर्वर्णनीया ।

२—पञ्चीकरणप्रकारः सम्यगभिधाय स्थूलप्रपञ्चं निरूपयत ।

३—शून्यात्मवादिनामिन्द्रियात्मवादिनाञ्च मतमभिधाय परिणामविवर्तयोरन्तरं लेखनीयम् ।

४—सम्बन्ध यं निरूप्य इदं तत्त्वमसीति वाक्ये सम्बन्धत्रयेण कथम खण्डार्थबोधकं भवतीति विवेचनीयम् ।

५—जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणानिराकरणपूर्वकं तत्त्वमसीति वाक्ये भागलक्षणा स्थापनप्रकारः साधु वर्णनीयः ।



दर्शनमध्यमापरीक्षायां

१९६०

५—सूक्ष्मभूतोत्पत्तिं विरूप्य मनोमयविज्ञानमयकोशयोः स्वरूपमावेद्यताम्।

६—पञ्चीकरणप्रक्रिया स्पष्टीक्रियताम्।

७—अहं ब्रह्मास्मि इत्येतद्वाक्यार्थबोधोऽद्वैतवेदान्तसम्मतो जननप्रकारपुरस्सरं वर्ण्यताम्।

८—जीवन्मुक्तिविदेहमुक्तयोः स्वरूपयोरन्तरे प्रकाश्य तयोः साधनानि निर्दिश्यन्ताम्।

१९६१

४—इन्द्रियग्राह्यस्योत्पत्तिमुपवर्ण्य प्राणमयकोशस्वरूपं प्रदर्शयत।

अथवा

अध्यारोपापवादयोः स्वरूपं प्रकाशयत।

५—वाच्यार्थलक्ष्यार्थनिरूपणपुरस्सरं तत्त्वमसि इति वाक्यस्याद्वये ब्रह्मणि तात्पर्यमवधारयत।

६—वेदान्तप्रदर्शितदिशा ईश्वरप्राज्ञयोः, विश्ववैश्वानरयोश्च स्वरूपं व्याहरत।

१९६२

४—किं नामाज्ञानस्य शक्तिद्वयम्? कथं विक्षेपशक्त्या जगत् सृज्यते? जगतश्च मुख्या भेदाः के?

अथवा

मनोमयान्नमयकोशयोः स्वरूपे सम्यक् प्रदर्शनीये।

५—फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिः निवारितम्।

ब्रह्मण्य ज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।।

इतिकारिकार्थो वैशद्येन व्याख्येयः ।

६ --अधोनिर्दिष्टेषु विषयेषु विशिष्टं टिप्पणकमालेख्यम् ईश्वरः, प्राज्ञः, सूत्रात्मा, तैजसः, वैश्वानरः, विश्वः, जीवन्मुक्तिः, विदेहमुक्तिः ।

१९६३

६—किन्तावत्सूक्ष्मशरीरं कथं च तदुत्पद्यत इति सुविशदयत ।

७—पुत्रादीनामात्मत्वसाधकं मतनवकमुपपाद्य खण्डयत ।

८—"तत्वमसि इति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति" इति सदानन्दः । अत्र सम्बन्धत्रयेण किमभिप्रेतं इति सुनिपुणं निरूपयत ।

९—"मनसैवानुद्रष्टव्यम्" "यन्मनसा न मनुते" अनयोर्वाक्ययोर्विरोधमुद्भाव्य निराकुरुत ।

१०—जीवन्मुक्तस्य लक्षणं वर्णयित्वा तस्याखण्डब्रह्मस्वरूपेणावस्थानप्रक्रियां लिखत ।

१९६४

७—अज्ञानस्वरूपं तत्र प्रमाणं च वदत ।

८—ईश्वरस्योपादानत्वं निमित्तत्वं चोपपाद्य, बुद्धिमनसोः स्वरूपं यथा ग्रन्थं लिखत ।

९—पञ्चीकरणप्रक्रियानिरूपणपुरःसरम् इन्द्रियाधिष्ठात्र्यो देवता लेख्याः।

१०—सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति वाक्यस्य वाच्यार्थलक्ष्यार्थं च निरूप्य, विकारविवर्तयोः सोदाहरणं लक्षणं लिखत ।

११—तत्वं पदयोर्जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा वा सम्भवति इति सुविशदं वर्णयत ।

१२—अहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थमुपवर्ण्य, वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वयोः स्वरूपं प्रदर्शनीयम् ।

१९६५

१—वेदान्तसारस्यानुबन्धचतुष्टयं संक्षेपेण प्रतिपाद्य, वेदान्तसारपदस्यार्थमुक्त्वा, साधनचतुष्टयस्य विवरणं कुरुत ।

२—अज्ञानस्य शक्तिद्वयं सप्रयोजनं संक्षेपेणोल्लिख्य, तात्पर्यनिर्णायकैः षड्भिः लिङ्गैः उपनिषदां तात्पर्यमद्वितीये ब्रह्मणि व्यवस्थापयत ।

३—अध्यारोपवादयोः स्वरूपमुपवर्ण्य, ताभ्यां तत्त्वमिति पदार्थशोधनप्रकार उत्पाद्यताम् । सविकल्पक-निर्विकल्पक समाध्योः किं लक्षणम् किंनाम वृत्तिव्याप्यत्वम्, किं वा फलव्याप्यत्वम् इति विशदयत ।

४—सूक्ष्मशरीरस्य तदवयवानाञ्च स्वरूपमुपवर्ण्य, जीवन्मुक्तस्य स्वरूपं प्रदर्शयत ।

५—प्राज्ञस्य किं स्वरूपम् , इन्द्रियाधिष्ठात्र्यो देवता काः ? भाट्टाभिमतं प्राभाकराभिमतं चात्मस्वरूपं किम् इति विवेचयत ।

१९६६

१—वेदान्ताधिकारिणः स्वरूपं सोपष्टम्भमुल्लिख्य, अध्यारोपापवादयोः स्वरूपमुपवर्णयत ।

२—पञ्चीकरणस्य स्वरूपं ब्रह्माण्डोत्पत्तिप्रकारञ्च निरूप्य, निर्विकल्पकसमाधेरङ्गानां निरूपणं कुरुत ।

३—तत्त्वमसि इति वाक्यस्याखण्डार्थबोधकत्वं सुदृढं साधयत ।

४—ईश्वरचैतन्यस्य स्वरूपमुपपाद्य जीवन्मुक्तस्य शुभाशुभकर्मानुवृत्तिर्भवति न वेति लिखत ।

५—अज्ञानस्य, विश्वचैतन्यस्य, जीवन्मुक्तस्य, परममुक्तस्य च स्वरूपं सोपष्टम्भमुल्लिख्य श्री सदानन्दाभिमतंजगद्ब्रह्मणोः ऐक्यमनैक्यं इति स्पष्टयत ।

—:०:—

हमारे आगामी प्रकाशन

भारतीय विद्या प्रकाशन

पो० बा० १०८ कचौड़ीगली,

वाराणसी